समीक्षा के सन्दर्भ

डॉ० भगवतशरण उपाध्याय

राजकमल प्रकाशन

मेरे

क्षुब्ध आलोच्यों

को

प्रीतिपूर्वक

समीक्षित साहित्य

प्रस्तुत सग्रह मेरी आलोचनाओ का है। ममय-समय पर सावधि उपन्यास, काव्यादि पर 'हस', 'कल्पना' आदि मे जो मेरी समीक्षाएँ प्रकाशित होती रही है वे ही यहाँ एकत्र सचयित है। इनमे से अनेक ऐसी हैं जिन्होने हिन्दी के प्रतिष्ठित व्यक्तित्वो को क्षुब्ध किया है, लेखको-पाठको के अन्तर को आन्दोलित किया हे। मुझे उससे सन्तोप हुआ हे।

आलोचना के क्षेत्र मे मैं मित्र-शत्रु नही मानता। अनेक बार मित्रो और गुरुजनो की कृतियाँ क्षतविक्षत हो गयी है, अपरिचितो की प्रशसित। आलोचक सहृदय होकर भी साहित्यिक भावसत्ता का दण्डधर होता है, यदि महानो की महत्ता ने उसे आतकित कर दिया, उनकी लघुता उसके दृष्टि-पथ से ओझल हो गयी, अथवा उदीयमानो के प्रति प्रतिष्ठित समीक्षको की उदासीनता उसकी उपेक्षा का कारण बनी तो समीक्षा का अर्थ असिद्ध हो गया, दण्डधर कर्त्तव्यच्युत हो गया। मेरे सामने व्यक्ति नही, सदा उसकी कृति रही है और मेरा आदर्श इस दिशा मे मल्लिनाथ की प्रतिज्ञा रही है

नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते।

इस दृष्टि के परिणाम मे अनेक साहित्यकार मेरे शत्रु भी हो गये है। पर मेरे मन मे कभी उनके प्रति कटुता नही आयी। मैंने उनकी शोभन कृतियो का अभिनन्दन किया है, अशोभन का प्रतिवाद किया है। मैं समझता हूँ, साहित्य के मूल्याकन मे चाहे आलोचक सहृदय बना रहे, उसे ख्याति अथवा आयोजित 'प्रोपेगैंडा' का शिकार होने से बचना चाहिए।

मैं जानता हूँ, इस सग्रह से पाठको के मन मे द्विधा प्रतिक्रिया होगी। पर मेरा विश्वास है कि उससे हिन्दी का हित होगा। महनीय की मीमासा मे यदि यह कसौटी स्वल्प मात्रा मे भी प्रमाण मानी गयी तो उसपर खिची स्वर्णरेखा को तिमिर मे किरण की कौंध मान इष्ट मार्ग पा लूंगा।

—भगवतशरण उपाध्याय

अनुक्रम

१

दिनकर की 'उर्वशी'

उर्वशी को हाथ मे लेकर प्रसन्न हुआ। सुदर, मोटा कागज, नयनसुख छपाई ने मोहा। टाइटिल पेज की तरफ लौटा कि देखू इस सज्जा का मूल्य क्या है। देखा, १२ रु०। सोचने लगा कि क्या यूरोप मे, अमेरिका तक मे यदि टी० एस० इलियट का-सा मेधावी और यशस्वी कवि भी अपना काव्य १२ रु० कीमत मे वेचना चाहे तो क्या वेच सकेगा? पर फिर खयाल आया कि न तो इलियट के पास अपने अतीत के प्रश्नात्मक वैभव की पृष्ठभूमि का घटाटोप है, न उसका अपना प्रकाशन है, न नए स्वतन्त्र हुए राष्ट्र के पार्लियामेट का वह सदस्य है, न राजधानी मे वैठकर वह सूत्र-सचालन ही कर सकता है, और न वह ऐसी भाषा का ही कवि है जिसे राज्य-भाषा का 'स्टेटस' मिला है और जिसके अपरिमित क्षेत्र मे कविता रूपी गौ को दुहने के सारे साधन अनेक परिस्थिति-गत विषमताओं के वीच प्रस्तुत है। १२ रु० मूल्य हिन्दी के विश्वकोश खण्ड के है जिनके प्रत्येक पृष्ठ पर 'उर्वशी' के पृष्ठ का दस गुना मैटर है, जिसका आकर डवल-डिमाई है, पृष्ठो की सख्या पाँच सौ है, जिसमे दो सौ से ऊपर चित्र है, जिसके प्रस्तुत करने मे देश-विदेश के दो सौ से ऊपर विशेषज्ञो की मेधा एकत्र हुई है, जिसकी कपडे की मात्र जिल्द पर दो रुपये व्यय हुआ है जिससे वह एकत्रित ज्ञान सुरक्षित रखा जा सके। 'उर्वशी' की जिल्द भी कागज की है, जिससे पुस्तक के 'प्रोडक्शन' और उसके विक्रय से उपलब्ध धन के वीच अनुपात भरपूर रखा जा सके।

साधारणत जैसे हिन्दी की रचनाएँ 'स्वात सुखाय' की जाती हैं, शायद यह काव्य-ग्रन्थ भी स्वात सुखाय ही लिखा गया है। इस सम्वन्ध मे पुस्तक के आरभ मे एक सकेत भी है 'सभी स्वत्व लेखक के अधीन'। जाहिर है कि लेखक प्रकाशक से अभिन्न नही, शायद उसका आत्मज ही है। अरविन्द आश्रम की सचारिणी शक्ति 'मा' के पति दर्शन के पडित और साहित्य के पारखी दिवगत पाल रिशार ने एक वार वहस के प्रसग मे कहा था कि "आर्ट फार आर्ट्स सेक इज इन्डीड

आट फार आर्टिस्टस सक' (कला कला के लिए का अथ है वस्तुत कला कला कार के लिए)। लगता है जैसे वह दष्टि सवश दिनकर की इस कृति के सम्बन्ध म सत्य हो गइ है। इस कृति मे न केवल स्ववत्ति का निरूपण है बल्कि उसका पण पक्ष भी सिद्ध है काव्य म प्रस्तुत अद्वत के रूप म ही (लेखक प्रकाशक के एक होन स जिसे सभी स्वत्व लेखक के अधीन उल्लेख द्वारा सपुष्ट कर रहा है) जिस दिशा मे काव्य के तूलिका जनित चौदह चित्रो मे सबसे पहला स्वय कवि का चित्र है यद्यपि वह चित्र कवि के आज के दशन स कम-से-कम युगपूव प्रौढ का है पचासोत्तर वायु का नही और वह सम्भवत इसलिए कि जिस काम को काव्य म चित्रित साधा गया है उसके साथ उसकी अपन चित्र की भी सगति बठ सके।

कुछ साल पूव जब कवि ने सास्कृतिक आचाय के रूप म यशोलाभ के लिए अपने सस्कृति के चार अध्याय' के साथ हिन्दी के क्षेत्र म पदापण किया तब नेशनल हेरल्ड के सम्पादक चलपति राव के हेरल्ड म उसकी आलोचना लिखने के अनुरोध को मैंने स्वीकार कर दिया था केवल इस कारण नही कि उस महान व्यक्तित्व ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखी है जिसका मैं आदर करता हू जिसने उस ग्रन्थ को पढे बगर भूमिका लिखी है और जिसकी वस्तुत आलोचना बगर उस भूमिका-लेखक की इस नतिकता पर विचार किए न लिख सकूगा बल्कि इस कारण भी कि मुझे पिछली सदी म घटी एक घटना याद आई। प्रसिद्ध जमन दाशनिक—अथशास्त्री डुहिंग ने मार्क्स के कपिटल के दृष्टिकोण पर कुछ लेखो द्वारा प्रहार किया। तब मार्क्स नियो राइतुग नामक पत्र निकाल रहे थे और लोगो को आशा थी कि वे तत्काल अपने यशस्वी पत्र म उन प्रहारो का उत्तर देंगे। पर मार्क्स ने उनका उत्तर नही दिया उत्तर दिया एगेल्स ने वह भी लेखो द्वारा नही प्रत्यालोचन म एक समूची किताब लिखकर जिसका नाम था ऐन्टी डुहिंग। इसकी भूमिका म एगेल्स ने लिखा कि लोगो ने मुझसे पूछा है कि आप डुहिंग के विरोध म लिखने जा रहे हैं पर आपने क्या उसे पढा भी है? और मैंने उन्ह जवाब दिया है जसा यहाँ भी लिख रहा हूँ कि मैंने डुहिंग को पढा तो नही पर मैं डुहिंग मानव को ही जानता हूँ रेखा मे पूरे मानव का आर-पार। मुझे ठीक वही उत्तर याद आया और मैंने 'सस्कृति के चार अध्याय' की आलोचना नहीं की क्योकि मैं उस दिशा म लेखक के ज्ञान और पराक्रम स परिचित था और जानता था कि चूहे के बिल मे *विभिन्न अन्नो का हिसाब खडा किया गया होगा।*

पर यह काव्य-ग्रन्थ है लेखक कवि है कवि-हृदय है छन्द गायक है अधिकारी है। इसी लिए उसकी अभिनव कृति 'उवशी' का आलोचन कर रहा हूँ। उसकी दष्टि पराक्रम और उपलब्धि कितनी है यह अलग बात है जिस पर इस

आलोचना की प्रक्रिया मे विचार करना होगा। वैसे न केवल काव्य का कलेवर अनेक समर्थ साधनो से सजाया गया है, जो अर्थहीन पर शक्तिमान कवियो को अनुपलब्ध हुआ करता है, बल्कि रचना के साथ ही लोगो के मूल्याकन के सकेत भी पत्रिकाओ तथा आलोचको को भेज दिए गए है जिससे आलोचना मे प्रकाशक के अनुकूल तथ्य प्रस्तुत हो सके। आधुनिक युग के जितने विज्ञाप्य साधन है उनका सागोपाग उपयोग हुआ है। इसका प्रभाव भी पडा है, जो कवि के कवि-भिन्न पद का वस्तुत परिणाम है, कि किसी ने 'उर्वशी' को छायावादोत्तर काल का प्रबलतम काव्य कहा है, किसी ने रामचरितमानस के बाद के 'वायड' को इसे ही भरने वाला माना है। इन दूसरे सज्जन ने इलाहाबाद मे हुए लेखको के एक सम्मेलन मे कहा था कि मैं आलोचना अलग से लिखता हूँ पर जब कोई अपनी रचना लेकर आता है तब उसकी प्रशसा करता हूँ क्योकि जब कोई मिठाई लेकर मेरे पास आए तो कैसे कह दूँ कि वह मिर्च है? सच है, इस मिठाई के विविध रूप है, उसकी बडी बिसात है, जिसने एक बार उसी आलोचक को कारणवश 'इन्दुमती' जैसे भौंडे उपन्यास पर होमर के काव्य का साधुवाद करने को बाध्य किया था।

मैं इन पृष्ठभूमि के साथ 'उर्वशी' काव्य की आलोचना करने को उद्यत हुआ हूँ जबकि जानता हूँ कि कवि के सारे शक्तिम साधन मेरे विपक्ष मे है, और कि महाभारत के अनैतिक कर्णधारो के समक्ष मेरी बिसात शायद मात्र विकर्ण की-सी है। पर विकर्ण की ही आस्था से हिन्दी का सेवक होने के नाते मैं इस ग्रन्थ के सम्बन्ध मे अपनी बात कह रहा हूँ जिसे कहने के लिए ही मुझे इतनी लम्बी पर अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य भूमिका देनी पडी है।

अन्य काव्यो की ही भाँति 'उर्वशी' के भी तीन पक्ष है जिनकी यहाँ चर्चा करना चाहूँगा—रूप, शब्द, तथ्य।

रूप—उर्वशी का रूप सजीला है, हिन्दी के प्रकाशनो मे जैसे उर्वशी की ही तरह, जिसका चित्र ऊपर-नीचे दोनो ओर खडी-अँगडाती अप्सरा की आकृति मे मुद्रित है। इनके बीच काव्य मे चौदह चित्र और है जिनमे से पहला, एतदर्थ प्रमुख स्वय कवि का है, शेष मे से चार श्री उपेन्द्रनाथ महारथी के लिखे मौलिक चित्र हैं, शेष श्री ज्योतीष भट्टाचार्य द्वारा प्रस्तुत प्राचीन प्रस्तर मूर्तियो की प्रतिकृतियाँ हैं और उन्ही का लिखा एक मौलिक चित्र भी है। प्रस्तर मूर्तियो की प्रतिकृतियाँ विषयो के अनुकूल ही खजुराहो की अप्सराओ तथा सुर-सुन्दरियो की परम्परा मे हैं। कथा-काल और इन प्रतिमूर्तियो के निर्माण-काल के बीच तीन हजार वर्षो से अधिक का अन्तर होने के बावजूद दोनो मे एक ऐसी समरसता है कि उसका एकत्व सन्दर्भ अनुचित नही। खजुराहो उडीसा के मन्दिरो का वह

अपने सारे अगो को सर्वत खोल, शिथिल कर, कुच-कन्दुको को विशेष उभार पैरो को प्रत्यालीढ मुद्रा मे डाले समुद्र के जल मे लम्बी पडी उसके तरगो पर कनिष्ठिका द्वारा उस नौका को धारण किए हुए है जिसके डगमग वक्ष पर डाँड धारे पुरुष उसे सम्भालता नगा खडा है। चित्र के नारी और पुरुष दोनो निस्पद है, निर्जीव, चेष्टाहीन, नितान्त 'फ्लैट'। उसकी विशेषता ऊपर से यह है कि जहा गिरधारी ने गोवर्द्धन को केन्द्र से उँगली पर धारण किया था, चित्र की नारी पुरुपवाहिनी नौका को, उसके एकान्त छोर को, उँगली पर धारण करती है जिसका दूसरा छोर उसके दाहिने अग मे प्रदर्शित है। कवि लिखता है (देखिए पृ० १६३ के सामने चित्र के नीचे) "छिगुनी पर धारे समुद्र को ऊँचा किए हुए है।" चित्र साथ ही यह द्वन्द्व भी उपस्थित करता है कि नारी अपनी 'छिगुनी' पर समुद्र को धारे हुए है या नौका को, यह बात अलग है कि अकेली उँगली मे यदि चुम्बक का भी आकर्पण हो तो उसके एक छोर को उठाने से नौका का दूसरा छोर उठा नही रहेगा, वैसे यह भी दूसरी बात है कि, 'छिगुनी' का अर्थ छोटी छडी है या कानी उँगली, या 'छागुर' के सन्दर्भ मे छ उँगलियो मे से एक। जहाँ तक मुझे पता है कि छिगुनी खडी बोली का नही भोजपुरी का शब्द है जो छागुर से न बनकर (क्योकि उसका अर्थ उँगली के प्रति सकेत के बावजूद इस स्थल से सन्दर्भ मे गलत हो जायगा) 'छीकुन' से सम्भवत बना है जिसका मतलब शायद बाँस की कैन या छोटी छडी है।

काव्य पाँच अगो मे रचा गया है। उसके पात्र कथोपकथन करते है, और उसका प्रारभ सूत्रधार तथा नटी के नाटकवत 'डायलाग' से शुरू होता है, फिर जहाँ-तहाँ (जैसे पृ० ६, ८, १६, २०, २६, २६, ३६, ४३, १०५, ११६, १२०, १२४, १२६, १३० १३३, १३६, १३६, १४०, १४३, १५०, १५३, १६६ पर) उसमे रगमचीय निर्देश भी है और स्थान-स्थान पर गीतो का समावेश किया गया है। प्रगट है कि प्रयत्न गीति-नाटक, 'ऑपेरा' लिखने का हुआ है और सुमित्रानदन पत के 'रजतरश्मि' आदि के पिछले आयोजन को स्तभित करने का प्रयास भी परोक्ष नही है, और इसका भी कुछ राज है कि काव्य समर्पित भी अप्सरा-लोक के कवि श्री सुमित्रानन्दन पत को हुआ है। उक्ति है—'अप्सरा-लोक के कवि श्री सुमित्रानन्दन पत के योग्य।' यह अटकल लगाना आसान नही कि अपनी इस कृति को कवि इस स्तर का समझता है जो पत के योग्य हो सकती है, या कि पत को उस कृति के योग्य मानता है, या उनके अभिमत को उनके द्वारा सप्राप्त न हो सकना समझकर इस काव्य द्वारा स्वय प्रस्तुत कर देने की क्षमता की ओर सकेत करना, पत को चुनौती देता है या कि पुरानी चिट्ठियो की तरह 'लिखी सुमित्रानन्दन पत के जोग' का पुनरावर्तन करता है। जो भी हो, काव्य सर्गो की जगह अको मे विभाजित है और प्रत्येक अक के पहले विविध

संस्कृत ग्रंथों के मूल उद्धरण दिए गए हैं। ग्रंथ के आरम्भ में भी संस्कृत के कुछ उद्धरण दिए हुए हैं। निःसंदेह इनका बोझ सूधे पाठक पर पड़ेगा और कवि के ऋग्वेद से कथासरित्सागर तक की आधिकारिक दृष्टि का वह कायल होगा और शायद उनमें विरला ही कोई हो जो एगेल्स की तरह कह सके 'आइ हैव नाट रेड डूह्रिंग बट आइ नो दि मैन!' 'विक्रमोर्वशी' के उदाहरण संभवतः स्थानोचित भी हैं (स्थान खड्ड) क्योंकि समूची कहानी कालिदास के उसी नाटक से उठाई हुई है पोर-पोर प्राय अन्त को छोड़। कहानी कालिदास ने भी उठाई है 'ऋग्वेद' के दसवें मंडल से पर पोर-पोर नहीं ढांचा मात्र और कहानी अपने ढंग से कही है अत्यन्त नए तथ्यों को गढ़कर। (इसी प्रकार कभी सन चालीस में एक कहानी संग्रह 'मकरा' भी छपा था जिसमें 'विक्रमोर्वशी' कहानी से एक कहानी मिलती थी जिसका प्रमाण न कवि जानता है।) 'उर्वशी' के कवि ने प्राय अक्षर-अक्षर कालिदास की कथा ले ली है उसके पात्र निपुणिका औशीनरी कंचुकी तक ले लिए हैं (सूत्रधार और नटी के नाम लेने की तो आवश्यकता ही नहीं) जिन्हें कालिदास ने स्वयं गढ़ा है। 'उर्वशी' का कवि 'विक्रमोर्वशी' के पात्रों—सहजन्या रम्भा मेनका चित्रलेखा—को भी प्रत्यक्ष उठा लेता है जिनका उल्लेख ऋग्वेद के पुरूरवा प्रसंग में नहीं है पर जिन्हें कालिदास ने पुराणादि से लिया है। 'उर्वशी' का कवि उन छोटे स्थलों को भी कालिदास के 'विक्रमोर्वशी' से उठाने में नहीं चूकता। (जैसे रानी का व्रतनियास चित्रलेखा का छिपकर रनिवास का हाल जानना गंधमादन या इलामून आदि) जिनकी भली भाँति उपेक्षा की जा सकती थी। वस्तुतः स्वतः कवि कालिदास की उस कृति में इतना रम जाता है कि निश्चय अप्रकाश में समझ नहीं पाता कि क्या उठाना उचित है क्या अग्राह्य और वह समूचा एकमात्र हर लेता है। न तो कोई कापीराइट कानून उसके इस कार्य में बाधक हो सकता है और न ही अन्य निज पराविनिगणना लघुचेतसाम् को प्रमाण मानने वाले को ही काव्यांतर के इस हरण कार्य में किसी प्रकार का असंतोष हो सकता है। गद्य कि हिन्दी 'उर्वशी' संस्कृत 'विक्रमोर्वशी' का कथानुवाद है।

शब्द—शायद शब्द से भाषा बनती है और भाषा से साहित्य बनता है। शब्दों का समुचित संचयन साहित्य की पहली शर्त है। शब्दों के समुचित उपयोग में चूक जाने से साहित्य दूषित हो जाता है। साधारणतः 'उर्वशी' का कवि प्रशस्त भाषा का प्रयोग करता है और अनेक स्थल इससे मधुर भी हो उठे हैं। पर जो पचास पार कर चुका है और चौथाई सदी तक कवि-कर्म करता रहा है उसके द्वारा भाषा के प्रयोग की अवहेला करना तो दुर्लभ है यद्यपि इस पराक्रम द्वारा कई अपशब्द और असंगत प्रयोग हुए हैं।

पहले शब्दो का भाव-पक्ष ले। पहले ही पृष्ठ पर एक वर्णन है जो दूसरे पृष्ठ तक चला गया है—प्रथमग्रासे मक्षिकापात —कवि 'द्वादशी चद्रमा' के 'निर्मेघ गगन' का वर्णन कर रहा है—

खुली नीलिमा पर विकीर्ण तारे यो दीप रहे है,
चमक रहे हो नील चीर पर बूटे ज्यो चाँदी के,
तारो-भरे गगन मे·· ··

चन्द्रमा द्वारा दीपित शुक्लपक्ष की द्वादशी का आकाश क्या तारो भरा हो मकता है ? क्या तब गगन के ऊपर इतने तारे 'दीपते' है कि लगे कि 'नीले चीर पर चाँदी के बूटे हो ?' सभवत तब तो ज्वलत नक्षत्र भी चन्द्रमा के तेज से अभिभूत हो मलिन पड जाते है। पृष्ठ २४ पर कवि अप्सरा चित्रलेखा के मन पर सोने के तार मढ रहा है। तार चाहे सोने का ही क्यो न हो, 'मढते' समय कील और हथौडो की आवश्यकता निश्चय पडेगी, और तब मन पर उनकी चुटीली मार से कवि-हृदय विरत हो जायेगा। दो पृष्ठ पहले एक पक्ति है

एक घाट पर किस राजा का रहता बँधा प्रणय है ?

'घाट-घाट का पानी पीना' निश्चय मुहावरा है, पर घाट बँधना केवल गधे के सम्बन्ध मे ही सार्थक हो मकता है, या उस कुत्ते के सम्बन्ध मे जो न घर का होता है न घाट का, पर मुहावरे की ध्वनि के अनुकूल दोनो से बँधा रहता है, घर से भी घाट से भी, अथवा घर से या घाट से। पृष्ठ ३७ पर 'जोहा करती हूँ मुख को' उम मुहावरे को 'सुख' मे तुक मिलाने के लिए 'मुँह' से भिन्न कर देना शायद मुनासिब न था। असफलता मे चाहे आदमी को माँ का वक्ष याद आता हो पर 'सकट मे युवती का शैयाकक्ष याद आता है' यह कल्पना कवि की अपनी हो सकती है किन्तु सामान्य नर की कतई नही है। वस्तुत. 'असफलता मे नही, सकट मे ही माँ का वक्ष, या वेहतर माँ याद आती है, युवती का शैया-कक्ष' वस्तुत सकट मे भूल जाया करता है (पृ० ३८)। पृष्ठ ४३ पर एक निर्देश है—'गधमादन पर्वत पर पुरूरवा और उर्वशी'। पुरूरवा गधमादन पर उर्वशी के साथ खुला विहार करता है, इतना ऐलानियाँ कि कचुकी द्वारा अपनी रानी को उसका सारा माहौल कहला भेजता है इस व्यग्य के साथ कि तब तक रानी व्रतो का आचरण करे, प्रकट ही यह 'अभिसार' नही है, जिसका उल्लेख पुरूरवा पृष्ठ ४३ की इस पक्ति मे करता है

जब से हम तुम मिले, न जाने, कितने अभिसारो मे।

अभिसार रात के अँधेरे मे हुआ करते थे, कभी-कभी शायद उजेली रात मे भी, जैसा 'शुक्लाभिसारिका' शब्द से प्रकट है, और तभी उसके छिपाव के कारण पति के प्रति भरत और वात्स्यायन की 'शठ' सज्ञा सार्थक होती है। इस लाक्ष-णिक शब्द का प्रयोग, कहना न होगा, गलत है। इसी प्रकार नसो के खून मे

नाव चलाना भी कष्ट कल्पना है चाहे वह नाव कवि की 'स्वणतरी' ही क्यों न हो और 'शोणित' में ही क्यों न खेई जाती हो (पृ० २१)। एक शिथिल लाइन पृ० १४ पर है

मिल भी गई उवशी यदि तुमको इन्द्र की कृपा से (जरा पढ़कर मनि सुनिए) जसे नीचे की दो और हैं अमर में प्रष्ट प्राय वाग्जाल—

लगता है यह जिसे उसे फिर नींद नहीं आती है,

दिवस सदन में, रात आह भरने में कट जाती है।

इन लाइनों में 'लगना' का प्रयोग प्रणय रूपी रोग के सम्बन्ध में हुआ है। पृ० ५२ पर शोणित में स्वणतरी चलाने के ही अनुरूप कवि रुधिर में सोने के सहस्रों साँप रेंगने की कल्पना करता है। पीड़ा की उपमा अनन्त बिच्छुओं के डंक मारने से तो दी जाती है और साँप का उपयोग भी डसने के प्रसंग में हुआ करता है पर यहाँ रुधिर में साँप रेंगते हैं, 'सहस्रों साँप, और वह भी सोने के'। मैं नहीं समझता कि प्रणय का कोई राज इस उपमा से खुलता है सिवाय इसके कि साप बजाय दद का कारण बनने के, जब वह डसता नहीं एक घिनौनापन, 'डिसगस्ट' पैदा करता है। साँप का रेंगना प्रणय के सम्बन्ध में कुछ मुनासिब अनुभूति नहीं उत्पन्न करता। इसी प्रकार त्वचा की नींद टूट जाना (पृ० ४७) विशिष्ट व्यंजना नहीं कहला सकती। पृ० ६१ पर 'वक्ष के कुसुम कुंज' की उपेक्षा भी समझ में नहीं आती। विद्यापति और सूरदास ने नाभि विवर से निकली रोम-नागिनी का ऊपर जाकर स्तनों के बीच खो जाना तो लिखा है पर वहाँ कुसुम-कुंज की भी कोई संभावना हो सकती है यह उन्हें नहीं सूझी। कुछ अजब नहीं जो अपार्थिव शरीरी उवशी के वक्ष में कुसुम कुंज की सी सपुंजित काई वश विधा रही हो जिसके भी भीतर शिशु की पवित्रता जीवित है।

उस अदोष नर के हाथों में कोई मल नहीं है (पृ० ११५) इसका भाव समझना भी कुछ आसान नहीं क्योंकि शिशु की पवित्रता वाले अदोष अंतर के नर के हाथों के मल का एकत्र सदभ एक रहस्य प्रस्तुत कर देता है जिसका उदघाटन सम्भव नहीं। कवि पूछता है (पृ० १२) कि स्पर्श-सुख की जो रोमांचक सनसनी त्वचा-जाल ग्रीवा, कपाल में, उँगली की पोरों में समा गई है उसे क्या आकाशगंगा का सलिल भी कभी धो पाएगा? आकाशगंगा का पावन जल पाप धोने के लिए चाहे उपयुक्त होता हो उसका उपयोग इस तरह की 'सनसनी' को धोने के लिए शायद नहीं किया जाता। पर वस्तुत यह प्रयोग असाधारण होने के अतिरिक्त विदेशी भी है और 'मक्बथ' से उठाया जान पड़ता है जहाँ लेडी मक्बेथ के हाथों से रक्त का समूचे अरब के इत्र भी नहीं धो पाते। पृ० १३५ पर प्राणों में 'स्मृति' का निपण्ण' होना न किसी भाव की

मधुर व्यजना है न इससे अलग कोई अर्थ ही रखता है कि प्राणो मे याद जा वैठो और याद का वैठना अगर कोई खास अर्थ भी रखता हो तो नि सदेह वहाँ उसका 'निषण्ण' होना तो वस 'तरुरिह' की जगह 'शुष्क काष्ठम्' पाठ प्रस्तुत कर देना है ।

कविवर 'दिनकर' ने काम-केलि की विविधताओ का, उनके नगे रूपो का जो वर्णन किया है वह, सतो की 'विपरीत रति' की ही भाँति, सत-सानिध्य से, जैसे इस प्रसग मे काम के लोकोत्तर प्रतिपादन से 'ग्लोरीफाइड' हो गया है। पर काम के 'ग्लोरीफिकेशन' की वात यहाँ न उठाकर आगे उठाऊँगा, तथ्य-विचार के प्रसगो मे । फिर भी एकाध सदर्भो की ओर सकेत किए विना रह सकना सम्भव नही जान पडता ।

कवि की चुम्वन-चेतना वडी सजग है । पृष्ठ ७१ पर वह 'चुम्वन की झकार' की वात कहता है, और वह झकृति उसके कानो मे इतनी गहरी 'अनहद' वन गई है कि उसका सम्वन्ध निश्चय रूप से 'अधर' से ही नही है, कारण कि वह दर्पण सदृश कपोलो की नही, मन की भूख है जिसकी 'क्षुधा' जल्दी मरती नही। पृष्ठ ७५ पर तो वही चुम्वन की अरूप झकृति 'फुहार' वन गई है—'भरी चुम्वनो की फुहार'—फुहार से सम्भवत कवि का आशय थूक की उन नीहारिकाओ से है जो शायद कामदग्ध गवासीन पुगव छोडता है, सभ्य मानव नही । इसी प्रकार कवि पृ० १२६ पर जिन विगत चुम्वनो के चिह्नो की अपनी पक्ति—**रोमांचित संपूर्ण देह पर चिह्न विगत चुम्बन के**—की ओर सकेत करता है, उसे सम्भवत वात्स्यायन अथवा कालिदास चुम्वन न कह 'दतक्षत' कहते, क्योकि 'चिह्न' दाँतो के ही पडा करते है, चुम्वनो के नही। सभ्य चुम्वन द्वारा त्वचा का स्पर्श मात्र होता है, अनेक वार स्थानातर से, उसका शक्तिम प्रयोग भी, पर शिष्ट (जो नि सदेह पुरूरवा का रहा होगा) का चुम्वन न 'फुहार' है, न 'दतक्षत' और न 'पान'—मात्र चुम्वन है । चुम्वन द्वारा जगाना-सुलाना तो खैर उर्वशी के सदर्भ मे कुछ अजव नही, पर चुम्वन का एक रूप जो चुनौती के रूप मे उछालकर कवि सामने रखता है वह पृष्ठ ९९ पर खूव ही वन पडा है—

ओ शून्य पवन मुझे देख चुम्बन अर्पित करने वालो ।

वेशक ऐसा नही कि आज की यूरोपीय सस्कृति के अधकचरे नौजवान स्टेशन पर जानी-अनजानी सुन्दरी को छूटती रेल के सामने होठो पर हाथ रखकर चुम्वन उछाल देते हो, उर्वशी के उस ऋग्वैदिक काल मे भी अप्सराओ के प्रति चुम्वन उछाल देने की विधि से भारतीय छैला वचित न था। आखिर आज के यूरोपीय दाय का पुरखा इडो-यूरोपीय सतति स्वय पुरूरवा ही तो था ।

पृष्ठ ५३ पर पुरूरवा की आत्मश्लाघा रावण की याद दिला देती है—

वगैर 'हाथ वढाए' राजा की राज्य-सीमा का दिन-दिन विस्तृत होते जाना, जवकि वगैर लडे चप्पा भर जमीन भी, सुई की नोक जितनी भूमि भी तव कोई देने को तैयार न होता था, एक पहेली ही है, जिसका उलझाव और भी वढ जाता है जव, पुरूरवा के ही कथनानुसार, उसकी राजधानी हजार मुकुटो से मडित-वदित है। ऐसा तो नही कि जिम 'विक्रमोर्वशी' से स्थल उठाए गए है उसी की पृष्ठभूमि अनायास इस सन्दर्भ मे उठ आई है ? पढिए मूल—

सामन्तमौलिमणिरजितपादपीठ-
मेकातपत्रभवनेर्न तथा प्रभुत्वम् ।

आशा करता हूँ, सस्कृत उद्धरणो की काव्यारम्भ मे भरमार करने वाला कवि मूल को समझ लेगा, इससे उसका अर्थ वताने की आवश्यकता नही समझता।

मुहावरो को कवि ने तत्सम के लालच से अकसर वदल दिया है। उसका एक उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है, एकाध और सुने—

प्रीति जव प्रथम-प्रथम जगती है (पृ० ३४)

कहना न होगा कि मुहावरा 'पहले-पहल' का है। अगर यहाँ पहले-पहल भी रख दिया जाता तो शायद मात्रा मे वैपम्य निश्चय हो जाता पर वात वैठ जाती, वैसे जहाँ-तहाँ स्वय मात्रा के वैपम्य के भी उदाहरण काव्य मे उपलब्ध है, जैसे 'पहले प्रेमस्पर्श होता है, तदनन्तर चिन्तन भी' (पृ० ६२)। इसी प्रकार 'क्षीरमुख शिशु' (पृ० १६), 'पयमुख' (पृ० १२६) आदि भी 'दूधमुँह' की जगह प्रयुक्त हुए है।

अग्रेजी अनुवाद के एकाध स्थल ऊपर दिए जा चुके है, कुछ और नीचे दिए जा रहे है—**'वाणी रजत मौन कचन'** (पृ० १५६) नि सन्देह **'एलोक्वेन्स इज सिल्वर वट साइलेंस इज गोल्ड'** का अनुवाद हे। जैसे, **'डाल न दे शत्रुता सुरो से हमे दनुज वाहो मे'** (पृ० १४७), शायद **'थ्रोइग इन्टू दी रेंक्स ऑफ दी एनिमी'** का ही भापान्तर है, जैसे पृ० ६२ का **'कवि प्रेमी एक ही तत्व है'**, शेक्सपियर की प्रसिद्ध उक्ति का सीधा अनुवाद है जिसमे कवि और प्रेमी दोनो के साथ, अपने मन्दर्भ मे कही घट न उठे, इम डर मे जान-वूझकर श्री 'दिनकर' ने 'ल्यूनेटिक' (पागल) छोड दिया हे।

प्राचीन कथानक को लिखने वाले हिन्दी के साहित्यकारो मे तत्सम के प्रति एक वडी दुखदायिनी कमजोरी यह हो जाती है। आवश्यक-अनावश्यक सभी स्थलो पर प्राचीनता का आभास उत्पन्न करने के लिए, गिरा को गम्भीर वनाने के व्याज से, अथवा जवान के राज को न पकड पाने के कारण, वे भापा को तत्सम के कुयोग मे भरकम वना देते है। इसी प्रवृत्ति का परिणाम है जो कवि के पल्ले पड मुहावरे वदल गए है, यद्यपि यदि वे साधु अनुकरण करना चाहे, तो उनके मामने 'मॉडल' की कमी नही है। तीन विविध सदियो मे होने वाले अग्रेजी के तीन महाकवियो—शेक्सपियर, ड्राइडन और शा—ने प्राय एक ही प्रसग को

विकास म वाल्भर बदली भाषा के अन्तर से एक ही प्रकार मे अपन नाटका—ऐन्टनी एण्ड क्लियोपेट्रा आल फार ल्व और सीजर एण्ड क्लियोपेट्रा लिखा है। तत्सम के प्रति 'निकर' का भी इतना उम्र आकषण है कि व सस्कृत म भी साधारणत दुलभ सुनारी (पृ० ३५), विअल्लोक (पृ० १४५), अमूक श्रवण (पृ० १५६) लिखते हैं जिससे कभी कभी उस प्रवत्ति का भी गोचर हो जाता कुछ अजब नही जिससे प्रभावित आज के तीव्र तत्समवादी भी 'धूमपान की जगह धूम्रपान' बहुत लिखते हैं। इस प्रकार के दो उदाहरण उवशी म भी उपलब्ध है— घूर्णिमान सिर (पृ० १५२)—दोनो शब्दो की समुक्त रवानी पर जरा गौर कीजिये—महाघ (पृ० १५४), यद्यपि यह दूसरा कुछ अजब नही जो मुद्रण दोष स सम्भव हो गया हो। तत्समो पर नि सन्देह हिन्दी का अधिकार है पर निश्चय ही उन्ही पर जो हिन्दी के क्षेत्र क्षेत्र म आ गए है (शब्द की व्युत्पत्ति का भाव भी यही है) ध्वनि लाभ अथवा अदभुत और प्रभाव के लिये उनको सस्कृत स उठाया नही जा सकता वरना अनुचित प्रयोगो से भाषा बिगड जायगी जैसे इस काव्य की भी बहुत सवत्र बिगड गई है जहा स्पश' (पृ० ३७, ४६ ५६ १०० १०६ १२० १३७) 'मृत्ति (पृ० १० ४६ ५६ ६६ ७३), 'उड्डीन (५३) स्यात (पृ० ६१ ८१ ८७ ६३ १०० १४३ १६४) आदि शब्दो का उपयोग हुआ है। स्पश की जगह प्राय सवत्र 'परस शब्द का इस्तेमाल हो सकता था जिससे उसकी कठोरता कोमल हो जाती और खीचकर पत्न की भी आवश्यकता न होती। स्यात का तो इतना उपयोग हुआ है— एक जगह स्यात स्यात का भी (पृ० ८७)—कि लगता है जस कवि इस पुनरुक्ति मोह द्वारा स्यादवाद' की व्याख्या कर रहा हो। कुछ अजब नहा यह विशिष्टता उसी राजधानी के राष्ट्रकवि स ली हो जिसके काव्यो म स्यात शब्द की भरमार है और जिसका उत्तराधिकार हमारा नायक कवि धीरे धीरे स्वायत्त कर चला है। (उपाधि वितरण म प्रवीण बिहार म देशमान्य देशरत्न आदि के साथ ही कवि के लिए राष्ट्रकवि का उपयोग होने लगा है। इस तष्णा म यदि कवि मुक्त होता तो उदगमस्थली अदश्य (पृ० १६३) जसे सकडा वण कटु स्थलो म काव्य की रक्षा हो गई होती। इसके विरुद्ध कवि न जहा-तहाँ ग्राम्य प्रयोग भी किए हैं जस रार रारोगा (पृ० १२६) प्राण-प्यारी (पृ० १२), 'मनारानी (पृ० १००) आदि। इसी परम्परा म कुछ और भी प्रयोग हुए हैं जस 'प्रमन्दता जा को (पृ० १७) देह करेगी ढीली (पृ० १६) जो मानीन बयानक क सन्दभ म अक्षम्य होंगे। कुछ शब्दो को कवि ने जान-बूझकर अथवा अपन विचार म 'नाद' नरम करन क लिए बिगाड भी दिया है जस 'चाँदनियाँ (पृ० ७ २६) 'अप्सरियाँ (पृ० ७ ५६, ११० १११) आदि। यह परम्परा हिन्दी म सम्भवत महावीरप्रसाद द्विवेदी ने चलायी था जिस मैं समझता

था, शायद उठ गई, पर वस्तुत लगता है, अब चल गई। इतने बड़े काव्य मे 'मलिन' शब्द का 'मलीन' हो जाना (पृ० १४) कुछ अजब नही यद्यपि शायद उसे कवि ने अपने वर्ग के अधिकार से लिखा है। एकाध नमूने अनावश्यक पुनरावृत्ति के भी उपलब्ध है, जैसे, 'विद्रुम-प्रवाल' (पृ० २४, ६१), 'श्रमितश्राति' (पृ० ३८) आदि। पृ० १६८ के 'दुवारे' की जगह अगर 'दुवारा' होता तो शायद कुछ बिगडता नही।

कवि ने सर्वत्र 'हम हरी-हरी है', 'हम भरी-भरी है', 'हम भरती है', 'हम फिरती हैं' (पृ० ६), 'हम बरसाती फिरती' (पृ० १०), 'हम लौट रही थी', (पृ० १२), 'हम नही सँजोती', 'हम उमग भरती है', 'हम आलिगन करती हैं', 'हम मिलती', 'रग देती', 'हम पचती' (पृ० १५), 'हम हो जाती है' (पृ० १६४), 'हम रचेगी', 'हम चली' (पृ० १६५), 'हम रुकती हैं' (पृ० १६६) आदि का प्रयोग किया है। मैं समझता हूँ कि यह खड़ी बोली का प्रयोग नही है, कम-से-कम उस खडी बोली का जो उसके केन्द्र मेरठ जनपद से बोली जाती है। वैसे, बिहार और पूर्वी उत्तरप्रदेश मे ऐसा प्रयोग स्वाभाविक रूप से होता है, जो यदि हम मेरठ जनपद को प्रमाण माने तो मुनासिब नही जान पडता। उसकी जगह उपयोग नारी होकर भी नारी 'हम कहते हैं, भरते है, फिरते है', आदि करती है। 'समारोह-प्रागण' (पृ० ६८) गलत तो नही है पर राजधानी के 'मार्च-पास्ट' आदि का स्मारक है जिनमे शामिल होने का इस प्रवासी कवि को पर्याप्त अवसर मिला करता है।

दो पक्तियो का और उल्लेख यहाँ करना चाहूँगा। एक इस प्रकार है— '**अमृत-अभ्र कैसे अनभ्र ही मुझ पर बरस पड़ा है ?** (पृ० १४१) नही जान सका कि अमृत का 'अभ्र' जब साथ ही जुडा हुआ है तब अमृत की वर्षा अनभ्र कैसे हुई ? दूसरी पक्ति है—**सुख देती छोड कनक-कलशों को उष्ण करो में** (पृ० १५)। मेरा तो तात्पर्य यहाँ वास्तव मे समूची पक्ति से नही, केवल उसके प्रति-वर्त 'कनक कलश' मात्र से है। मैं समझता हूँ, सस्कृत के इस दोष का वहन हिन्दी ने बहुत काल तक किया। सस्कृत के अनुकरण मे तत्सम के प्रयोग के जोश की ही तरह हिन्दी कवि 'कुच-कलश' की बात कहते हैं। कलश द्वारा स्तनों की उपमा नितान्त गँवारू है, चाहे उसका प्रयोग कालिदास तक ने क्यो न किया हो। फिर कुच कलश होकर फिर कुच नही रह जाएगा, वक्ष पर नही तब उसे सिर पर धारण करना पडेगा, और फिर कवि उसे हाथ मे भी न ले सकेगा, उसके लिए वाहक साथ रखना पडेगा, जिससे रस भग होगा। कोई लडकी तो जाने दे, प्रौढा भी घड़े द्वारा अपने स्तनो की उपमा से खीझ उठेगी। वस्तुत इसका अर्थ मातृपदीय है, वैसे ही इसका व्यवहार भी होना चाहिए। फिर कलश चाहे मिट्टी का हो चाहे 'कनक' का, है वह घड़ा ही। 'कनक' का होने से तो उसे

गरम हाथ म न्न वाल की कठिनाई बन ही जायगी क्योंकि गरम हाथों की आवश्यकता धातु-कलश की नहा उस पदार्थ के कलश की है जिसके स्पश स उष्ण कर ठड हो जस साहित्य म काम की परम्परा म गर्मी म भी नारी शीतल होकर उन्मुख नर को उष्ण कर ठडा करती है।

तथ्य—इसम चार प्रसगा पर विचार करना होगा—१ कथानक २ चरित्र चित्रण ३ दशन और ४ कालविरुद्ध दोष पर। हम सबस पहले अतिम प्रसग पर विचार करेंगे।

उर्वशी का गीतिनाट्य यद्यपि शुद्ध ऐतिहासिक नहा है पर उसका कथानक पुराणसम्मत होने के कारण उसका रूप ऐतिहासिक ही है। पुराणा के वशक्रम के अनुसार पुरूरवा ऐतिहासिक व्यक्ति भी ह जो स्वय ऐल वश का है और चन्द्रवश उसी स प्रारम्भ होता ह। ऋग्वेद म राजा के रूप म पुरूरवा ऐतिहासिक व्यक्तित्व रखता है। इससे उर्वशी को ऐतिहासिक दृष्टि से भी तनिक देख लना अनुचित न होगा। यह आवश्यक नहा कि ऐतिहासिक साहित्य अथवा इतिहास के तथ्य को नाटक या कथा का आधार बनाने वाला साहित्यकार सवथा इतिहास की लीक पर चले ही। यदि वह चाह तो जहा इतिहास मूक है वहा अपनी मेधा का अनुसरण कर सकता है यदि विषय विवादास्पद हो तो उस पर अपना सुविचारित पथ ग्रहण कर सकता है। पर उसे साधारणत दो बातें नहीं करनी चाहिए एक तो जो स्पष्ट ऐतिहासिक सत्य है उसके विपरीत नहीं जाना चाहिए दूसरे कृति म कालविरुद्ध दूषण का परिहार करना चाहिए। दोना के अथ साहित्यकार को अपने विषय का इतिहास के सन्दभ म भरपूर अध्ययन करना चाहिए। प्रसाद के नाटकों के सम्बन्ध मे और चाहे जो कहा जाय यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रतिपाद्य विषय का वे बड़ी सावधानी से अध्ययन करते और इसी स उनकी रचनाओं म कालविरुद्ध-दूषण अत्यन्त कम है। 'उर्वशी' का कवि संस्कृति का आचाय है इसस आशा तो यह की जाती है कि उसकी रचना म कालविरुद्ध दोष नहीं होगा पर हकीकत यह है कि जान कार के लिए कालविरुद्ध दोषों का 'उर्वशी' म साधारण पारायण म भी एक समूचा नगर मिलेगा। इस दिशा म प्रसाद और दिनकर म सख्यातीत गुणन अन्तर है।

मम्मट ने लोक विश्वास के अनुसार नषधकार से कहा था कि बेटे तुम जरा तब कहाँ थ अगर तुमने अपनी रचना मुझे पहले दिखा दी होती तो मेरी कृति के काव्यदोष प्रकरण के उदाहरणों के लिए इतना परिश्रम नहीं करना पड़ता एक ही जगह सब मिल गए होते। जहाँ तक कालविरुद्ध दोषों का विषय है वही बात दिनकर की इस कृति के सम्बन्ध म भी कही जा सकती

है। अब जरा उन दोषो पर विचार कीजिये। ममार जानता है कि 'यवन' शब्द आयोनिया के ग्रीको के लिए प्रयुक्त हुआ करता था और सिकन्दर से पहले के सस्कृत साहित्य मे कम-से-कम उनके 'स्टेज कर्टेन' यानी पर्दे का, 'यवनिका' का उल्लेख नही हुआ है। यह शब्द सस्कृत नाटको से भिन्न साहित्य मे अन्यत्र कही नही, और मस्कृत के प्राचीनतम नाटक से कम-से-कम दो हजार वर्ष पुराना ऋग्वेद है। आश्चर्य है कि उसका चरित्र पुरुरवा 'यवनिका' शब्द का इस्तेमाल स्वाभाविक रूप मे करता है (पृ० १४८)। कवि इमी प्रकार लेखन का भी उल्लेख करता है, 'पत्रक पर अकन' (पृ० ६६) का, जो मर्वथा कालविरुद्ध है। मात्र कालिदाम का उदाहरण इसे सही नही कर सकता, कारण कि आज हम अनेक सन्दर्भो मे कालिदाम से कही अधिक इतिहाम का ज्ञान रखते है। ऋग्वैदिक समाज मे अभी लेखन का प्रचलन नही हुआ था जिस कारण उस ममूची सहिता मे कही भी लिखने, लिखे हुए को पढने, अथवा केवल पढने, कलम, स्याही आदि किमी वस्तु का उल्लेख नही हुआ है। और कवि तो न केवल सदिग्ध रूप से लेखन का बल्कि स्पष्ट 'लिपि का' उल्लेख करता है (पृ० ६१)। पृ० ६ पर जो कविता की 'पक्तियो' का उल्लेख हुआ है वह भी उसी दिशा का दोष है क्योकि पक्ति का परिचय अथवा बोध मात्र लिखी रेखाओ द्वारा होता है। और कवि वस्तुत लिपि तक ही नही रुकता बल्कि 'ग्रथ' और उससे भी बढकर उस 'मुद्रित पृष्ठ' (पृ० १३४) का उल्लेख करता है जो लिखने और ग्रथ-निर्माण के हजारो साल बाद की स्थिति है जिम कला का निर्माण चीनियो ने ईसा के बाद की सदियो मे किया और जिसका सही रूप यूरोप ने 'रेनेसास' काल मे, आज से कुल करीब पाँच मौ साल पहले प्रस्तुत किया।

इमी प्रकार कुछ लाक्षणिक शब्दो के प्रयोग है जो सर्वथा कालविरुद्ध है। 'भट्टारक-भट्टारिका' (पृ० २६) शब्द सस्कृत मे बहुत प्राचीन नही है और अधिकतर गुप्तकालीन तथा उसके आस-पास के ही माहित्य मे व्यवहृत हुए है। कवि ने उन्ही के साथ 'कचुकी' (पृ० ४०) शब्द का भी निर्बंध व्यवहार किया है। 'विक्रमोर्वशी' मे इन तीनो शब्दो का व्यवहार कालिदास के नाटको मे तत्कालीन ज्ञान की कमी के कारण यदि हुआ भी है तो कोई वजह नही कि भारतीय इतिहास की खोजो की उपलब्ध अनन्त सपदा के बावजूद हमारी सस्कृति का यह आचार्य भी उनका उपयोग करे, यह क्षम्य नही। नाटक होते ही रचना उस शब्द के व्यवहार की अधिकारिणी नही हो जाती जिसका कथानक के समय अस्तित्व भी न था। इसी प्रकार 'महामात्य' (पृ० १२३) बहुत प्राचीन पदाधिकारी नही है। ऋग्वैदिक काल मे महामात्य तो क्या माधारण मन्त्रिपद का भी अभाव था जिसकी पूर्ति राजा के अन्य दरबारी-पुरोहित, मेनापति, महिषी आदि करते थे। 'परिजनो' (पृ० १४६) का अस्तित्व 'पुर' की सभावना मे ही

सभव था। ऋग्वेद मे यदि पुरो का उल्लेख हुआ भी है तो निश्चय आर्यों के पुरो का नहीं, अनार्यों के पुरो का जिनका विध्वस करने से आर्यों के देवता इद्र का नाम 'पुरारि' पड गया था। 'पौर जानपद' रामायण-महाभारत वीर काव्यो की राजनीति के प्रसग है। मणि कुट्टिम (पृ० ५७) पच्चीकारी का प्राचीन सस्कृत नाम है जिसका उपयोग भारतीय वास्तु मे बहुत पीछे हुआ है। 'मणि', एक प्रकार के कीमती पत्थर को कूटकर फश मे वज्रलेप (एक प्रकार का सीमेंट) के साथ बिछा दिया जाता था। वसे सभवत उत्तरी ईराक के असूरिया के असुर सम्राटो के राजप्रासादो म इस प्रकार की पच्चीकारी का उपयोग हुआ था, जिनके वास्तुविशारद भय ने, भारतीय शिल्प परपरा के अनुसार उसका इस देश मे प्रचलन किया। परतु वास्तव म मणि कुट्टिम का पहला ऐतिहासिक उपयोग रोमनो ने किया जिसका एक नमूना पहली सदी इसवी म भूकप से विध्वस्त नगर पाम्पेई म मिला है दूसरा चौथी सदी ईसवी के रोमन सम्राट कास्तानतीन की ईसाई माता द्वारा इजरायल म गल्लिली-सागर के तट पर बन वाए गिरजे के दबे फश के अवशष म सुरक्षित है हमारे कवि ने मणि कुट्टिम शब्द को नि सदेह कहीं सुन लिया और प्रदशन द्वारा उपलब्ध यश के लोभ को सवरण न कर सका और उसका कालविरुद्ध दूषित उपयोग वह कर ही बठा। इस ज्ञान प्रदशन के लोभ से ही एक व्यापक कालविरुद्ध दोष 'उवशी' म अन्यत्र उस प्रसग म बन पडा है जहाँ कवि अत्यत निद्वद्व होकर कला के सबध म अपने विचार व्यक्त करता है—

> मैं कला चेतना का मधुमय, प्रच्छन्न स्रोत,
> रेखाओं मे अकित कर अगों के उभार,
> भगिमा तरगित वतुलता, वीचियाँ लहर
> तन की प्रकाति रगों म लिए उतरती हूँ।
>
> पाषाणों के अनगढ अगों को काट-छाँट
> मैं ही निविरस्तननता, मुष्टिमध्यमा,
> मन्दिरलोचना कामललिता नारी
> प्रस्तरावरण कर भग
> तोड़ तम को उन्मत्त उभड़ती हूँ।

भारतीय कला के समीक्षा म सम्प्रति प्रमाणित आत्मसिद्धि यह है कि स्मृत पूववर्ति काल म कला का सवथा अभाव है इतना कि आज तक देश म मिल लाया भग्नावशषो म कहीं भी उस काल का चित्रण अथवा मूर्तिकला का स्पष्ट तक उपलब्ध नहीं। और हमारे कवि ने इस ज्ञानाभिमान के साथ तत्कालीन कला का उसका क मुख से बयान कराया है कि वह व्यापक पौर

की एक लाइन अनायास याद आ जाती है, पर उसका उल्लेख नही करूँगा, इस इशारे के साथ अक्लमदो के बूझने के लिए छोड दूँगा। यह समूचा वर्णन उत्तर-मध्यकालीन भारतीय कला का है, मूर्ति के सवध मे। वैसे, कवि ने अपने इस ज्ञान को दो भागो मे बाँट दिया है जिसमे पहली चार लाइनो का सवध तूलिका और लम्ब कूर्चिका द्वारा अकित चित्र-लेख्यो से है, पिछली पॉच का कोरी जाने वाली मूर्तियो से। वस्तुत इसका भी एक राज़ है जो शायद कवि स्वय नही जानता, मैं बताए देता हूँ—उसका सारा जो यह काव्यगत यौन-व्यापार है उसका सवध कामाकन करने वाली उस मूर्तिकला से है जो पिछले मध्यकाल मे उडीसा और खजुराहो मे अभिव्यक्त हुई और जिसकी अप्सराओ, अथवा कवि के शब्दो मे 'अप्सरियो' का जादू कवि के सिर चढ भरपूर बोला है। लगता है कवि को लगा कि गणिका होने के कारण उर्वशी को कला-चेतना होनी ही चाहिए, फिर वह उसकी कला नर्तन तक ही सीमित क्यो रहे, उसने उसका परिवेश चित्रण मूर्तन तक फैलाकर उल्वण कर दिया।

'अयस्कात' (पृ० ४५) सस्कृत मे चुवक को कहते है। ऋग्वेद मे 'अयस्' का प्रयोग तो होता था पर यह 'अयस्' लोहा नही था, यह प्राय निर्विवाद है। सभवत वह ताबे का द्योतक था। अयस् का लोहे के अर्थ मे सस्कृत मे प्रयोग पीछे हुआ और उससे भी पीछे अयस्कात का चुवक के अर्थ मे। पर हमारा कवि अयस्कात के भी सपने ऋग्वैदिक काल मे ही देख रहा है। 'शरभ' (पृ० ६६) सस्कृत कवि-परपरा और लौकिक प्राचीन जन-विश्वास को व्यक्त करता है। यह आठ पैरो का उछलने वाला पशु माना गया है जिसका वर्णन अन्य कवियो के अतिरिक्त कालिदास ने भी 'मेघदूत' मे किया है। इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद मे नही हुआ है जिससे उस काल के जन-विश्वास का भी यह परिचायक नही हो सकता। केवल सस्कृत कवियो मे, वह भी अपवाद रूप मे प्रयोग हिंदी के कवि को वाध्य नही करता कि उसका उपयोग वरवस वह भी करे।

कवि के दर्शन की वात तो मै उसके दर्शन के प्रसग मे करूँगा, यहॉ उसके दर्शन सवधी कालविरुद्ध दोप की चर्चा करूँगा, वह भी अत्यत सक्षेप मे, क्योकि कवि की दार्शनिक ज्ञान के प्रदर्शन की कमजोरी इतनी वडी है कि वह आत्मा-परमात्मा, ईश्वर-परमेश्वर, कर्म-अकर्म, प्रकृति-पुरुष, द्वैत-अद्वैत, विधि-निपेध, माया आदि का वर्णन इस स्वच्छन्दता से करता है कि इसकी भी परवाह नही करता कि उन शब्दो का प्रयोग अथवा उन दार्शनिक तथ्यो का ज्ञान तव सभव भी था या नही। यहॉ हम केवल कालविरुद्ध दोप के रूप मे कवि की कुछ धारणाओ का उल्लेख करेंगे। आरभ मे ही कह देना चाहूँगा कि कवि के लिए जितना विगत है वह सारा प्राचीन है और उसकी प्राचीनता इतनी अखड है कि उसमे किसी प्रकार का पूर्वपर का विभाजन नही। द्वैत-अद्वैत (पृ० ७०)

कल्पसूत्रो का कालभंजक वर्णन न कर रहा हो, जिनमे प्राचीनतम छठी-पाँचवी सदी ई० पूर्व के बौद्धायन और आपस्तंब के है। पृ० ८७ पर तो कवि ने मध्यकालीन और उससे पूर्व की गीताकालीन, साथ ही उसके पश्चात् प्राय आज की सोधित वैष्णवधर्म की, व्याख्या प्रस्तुत कर दी है

सत्य, स्यात्, केवल आत्मार्पण, केवल शरणागति है।
उसके पद पर, जिसे प्रकृति तुम, मैं ईश्वर कहता हूँ॥

स्यात् के बावजूद, जो उन पंक्तियो मे वैष्णव विश्वास की असंदिग्ध शक्ति है, उसके परे आज की वहम की भी ध्वनि कवि ने निचली लाइन मे प्रकृति और ईश्वर के भेद द्वारा प्रस्तुत कर दी है, वस्तुत उस 'स्टैंड' को जो १८वी सदी मे 'नेचर' के सम्बन्ध मे 'डेइस्ट' वोल्तेयर ने लिया था। और पृष्ठ ८२ की यह 'आदिभित्ति' क्या बला है ? लगता है, जैसे, कवि उस अवर्णनीय 'आदि-भित्ति' के भी आरपार देख लेता है, यद्यपि उसकी इबारत को वह पेच देकर दार्शनिक विज्ञप्ति की तरह प्रस्तुत करता है।

और, अन्त मे, अनाख्येय जो आदिभित्ति आती है, काश कि कवि अपना यह 'ज्ञान का केचुल' उतार फेंकता जिसका उल्लेख उसने पृष्ठ ११५ पर बडी सूझ-बूझ से किया है। दर्शन के सम्बन्ध मे कवि ने जो बकवास विशेषकर पृष्ठ ७७-९२ पर प्राय १५ पृष्ठो के परिमाण मे की है वह वागाडबर और शब्दजाल का अद्भुत उदाहरण है, मात्र प्रलाप, असीम कचरा।

इसी सिलसिले मे काव्य मे दार्शनिक दृष्टिकोण की भी कुछ चर्चा मुनासिब होगी। पहले तो प्रश्न यह है कि काव्य मे जीवन-दर्शन से भिन्न मात्र चिंतन दर्शन (स्पेकुलेटिव पोलेमिक्स) अपेक्षित है ? हिन्दी मे इधर कुछ विशेष काव्य-साहित्य के दर्शन लिखने की प्रकृति की नही, जैसे लाचारी भी जग पडी है। यह न तो पूर्व की परम्परा है न पश्चिम की, न सस्कृत की और न हिन्दी के ही सूर, तुलसी आदि विशिष्ट कवियो की। साहित्य दर्शन से भिन्न रस द्वारा अभि-व्यंजित रचना-विधा है। दर्शन उसमे रस-भग उत्पन्न करता है। मुझे लगता है कि काव्य यदि दर्शन के कारण विशिष्ट है तो निश्चय ही उसका काव्यत्व निकृष्ट है, वैसे ही यदि दार्शनिक कृति अपने काव्यगुण के कारण विशेष प्रशसित है तो निश्चय ही उसका दर्शन निकृष्ट है। दर्शन की ही तथाकथित विशिष्टता प्रसाद की 'कामायनी' का मानदड बन गई है, उसके दर्शन की ही अधिक, काव्य की कम, चर्चा हुआ करती है। 'कामायनी' काव्य की दृष्टि से घटिया कृति है और जहाँ तक दर्शन की बात है, मुझे एगेल्स की बात दोहरानी पडेगी। वैसे, दर्शन पढने के लिए कामायनी की अपेक्षा दर्शन की दिशा मे सर्वथा शून्य व्यक्ति ही करेगे। यही बात 'उर्वशी' के सम्बन्ध मे भी कहना चाहूँगा, यानी कि वह भी अधिकतर दर्शन के प्रदर्शन के लिए ही, और इस दिशा मे 'कामायनी' से बाजी

अनिवार्य आवश्यकता मानता है—'युक्ति तो यही कहती है कि नकाव पहनकर असली चेहरे को छिपा लेने से पुण्य नही वढता होगा, फिर भी हर आदमी नकाव लगाता है, क्योकि नकाव पहने विना घर से निकलने की, समाज की ओर से मनाही है' (पृ० 'ज')। वस्तुत काव्य का, लगता है, कवि की राय मे, अकर्गत अश जितने महत्त्व का है उतने ही महत्त्व की उसकी भूमिका है। पर भूमिका की ओर से हाथ खीच लेना ही मुनासिव है वरना उसको तार-तार कर देना समीक्षक का कर्तव्य हो जाएगा। वस इतना ही कह देना पर्याप्त हे कि जो दृष्टिकोण 'फिजिकल को लाँघकर मेटाफिजिकल' (पृ० 'ड') मे प्रतिष्ठित होता है वह उस प्रतिष्ठा की ओर इशारा न कर कवि के छलवाद की ओर इशारा करता है।

चरित्रचित्रण. 'उर्वशी' के प्रधान पात्र तीन है, स्वय उर्वशी, पुरूरवा और औशीनरी। इनमे पुरूरवा और उर्वशी नायक-नायिका है और औशीनरी राजा की दोनो द्वारा वचिता रानी है। शेष सारे चरित्र वस्तुत चरित्र नही, मात्र सूचना के अवलम्ब हे—निपुणिका, अप्सराओ से कचुकी तक। वैसे काव्य का रूप नाटक का-सा होने के कारण मच पर उनका साकार दिख जाना स्वाभाविक है। उर्वशी अन्य अप्सराओ से तनिक भी भिन्न नही, सिवाय इसके कि वह उनका ही लवीकृत व्यक्तित्व है, जैसे रटाया हुआ तोता। पर उस दृष्टि से उसमे कही वडा तोता पुरूरवा है, जो पहले कामविद्ध सहज कपोत है फिर विरत किन्तु प्रगल्भ तोता होकर रह जाता है।

औशीनरी हतभागिनी है और इस देश के समूचे इतिहास मे नारी के उस ऋग्वैदिक अत्यन्त प्रकर्प काल मे भी नितात उपेक्षित है जो स्थिति, सस्कृति के जानकार को अमान्य होगी। जहाँ शची पौलोमी की तरह पत्नी अपनी सपत्नियो को प्रतारित कर दृप्त वाक्य वोलती है—अह केतुरह मूर्धा अह-मुग्राविकाचिनी—जहाँ ससार के साहित्य मे अप्रतिम वाक् घोपित करती है—अह रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विपै शूरवे हन्तवाउ अह जनाय समदकृणोमि अह द्यावा पृथिवी आविवेश—वहाँ औशीनरी पातिव्रत का रोना रोती है, नारी के दुर्भाग्य को कोसती है, चाद्रायण और पतिप्रसादन व्रत करती है (देखिए पृ० २६, ३३, ४०)। शायद यह इस कारण कि कालिदास ने इन सारी स्थितियो का वर्णन किया है, यद्यपि जहाँ 'उर्वशी' का अशिप्ट और कृतघ्न पुरूरवा अपने गधमादन के विलास के अवकाश मे औशीनरी को उसके दुख मे अपने सुख-सवाद भेज उस पर निर्मम व्यग्य करता है, कालिदास का राजा अपनी परि-स्थिति से मजवूर, जैसे लजाकर, अत्यन्त कोमल पदावली मे अपनी पत्नी का दुख आशिक रूप मे हरता है

२

धूप का टुकड़ा

यह पजावी की यशस्विनी कवयित्री अमृता प्रीतम के कविता-सग्रह का अनुवाद है। अनुवाद श्री देविन्दर ने किया है। सग्रह 'धूप का टुकडा' मे ४४ कविताएँ सग्रहीत है। तीन खण्डो मे विभाजित, २३ पहले मे, १२ दूसरे मे, ९ तीसरे मे।

अमृता प्रीतम के दो उपन्यास पढे थे, 'डॉ० देव' और 'पिजरे'। अच्छे लगे थे। उनकी कविताएँ जव-तव पत्र-पत्रिकाओ मे छपी पढने को मिलती रही है। पर शायद उनकी कविताओ का वडा सग्रह यह पहली वार हिन्दी मे अनूदित-प्रकाशित हुआ है।

सग्रह हाथ मे आया, एक कविता पढी, फिर दूसरी, फिर तीसरी, और फिर तो जैसे मन पर अधिकार न रहा। पढता ही चला गया, और सग्रह समाप्त करके ही उठा। एक वार पढा। दो वार और तीन वार पढा, फिर अनेक कविताएँ कई-कई वार पढी। मन मथ और मोह गया। सोचने लगा, क्या हमारी हिन्दी मे इन कविताओ-सा कुछ है?

हो कैसे? जव कवि का मन स्थितियो-परिस्थितियो से, क्रियाओ-प्रतिक्रियाओ से, मजबूर कर देने वाली अनुभूतियो मे क्षुब्ध, विकल या मुग्ध होता है तव मानस मे कविता की लहर उठती है, और भावधनी कवि के हिय मे विप या अमृत के सोते फूट पडते है। विना लाचार कर देने वाली अनुभूति के कविता मे मनम् और हिया वँटे रहते है, वोध और मरम एक-दूसरे से दूर जा पडते हैं। मात्र सयोजन मज्ञा पर चोट करता है, अन्तर को पिघला नही पाता। कवि अपने प्रति, जिनसे कहना चाहता है उनके प्रति ईमानदार नही रह पाता। इस मग्रह की कविताओ के प्राण इसके मरम मे वसते है, कवयित्री के अन्तर को अनुभूति मथती है, विकल कर देती है, और वह पिघल पडती है, क्षुब्ध सवल व्यग्य की चोट करती हे, या मर्माहत पुकार उठती हे। उसके भावो और उन्हे प्रकट करने वाली भापा मे कृत्रिमता की ओट न होने से दोनो

हिज्र का एक रंग है
और तेरे ज़िक्र की एक खुशबू
मैं, जो तेरी कुछ नहीं लगती

पर राधा ही कन्हैया की कौन लगती थी, और, पर रुक्मिणी-कृष्ण की माला किसने फेरी ?

और याद मे जब वह गीत लिखने चली तब प्यार ने भी भीतर-बाहर रँग दिया

जब मैं तेरा गीत लिखने लगी
कागज़ के ऊपर उभर आई
केसर की लकीरें—

जैसे सहसा किसी की याद आ जाय और रगो पर चाँदनी-सी छा जाय। 'तू नही आया' कविता जैसे ऋतुओ की पोर-पोर उतरती है, प्रोषित-पतिका का परदेसी मे लगा मन एक ओर कालिदास के नागर अभिजात आकलन से होड करता है, दूसरी ओर लोकगीतो की ताजी अकुलायी दुनिया, बारहमासे की विधा मे जैसे, आँखे देहरी पर लगाये गायिका के अन्तर मे उतर आती है

चैत ने करवट ली
रगो के मेले के लिए
फूलो ने रेशम बटोरा
तू नहीं आया

जी चाहता है कि समूची कविता लिख दूँ, पर ना, बस एक चावल

दोपहरें लम्बी हो गईं
दाखो को लाली छू गई
दरांती ने गेहूँ की बालियाँ चूम लीं
तू नहीं आया

पुश्किन की जैसे नई धरती अपनी सुवास के साथ कवयित्री प्रवासिनी प्रतीक्षिका की याद मे अँगडा उठी। पर ना, पुश्किन की याद तो समीक्षक का भ्रम है, कवयित्री का यह विन्यास तो उसका अपना है, अनायास सहज अथ से इति तक अपना, कारण कि उसकी हर कविता मे इसी अन्दाज का दरिया रवाँ है

बादलो की दुनिया छा गई
धरती ने दोनो हाथ बढ़ा कर
आसमान की रहमत पी ली
तू नहीं आया

तनहाई की एकाकी तकलीफ को रात और तारे किस कदर बढा देते है, पर उस जूठे बयान को अमृता हाथ नही लगाती जिसमे आहो के तारे आसमान मे सुराख बनाते है, वह अपनी सूझ से उसे मुखर करती है। एक हादसा था, एक ज़ख्म था, एक टीस थी, बस एक, दिन का धन, पर सितारो की अनत रकम ने, अनगिन अदद ने रात के एकाकी मे उसे जरब देकर बेहद बढा दिया। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' बन गया और जो क्रिया कभी फलित होकर समृद्ध करती वही प्रतिफलित होकर अकघातिनी हो उठी।

'रात मेरी' मे वह तकलीफ एक अजब दीवानापन धारण करती है जब चोट के जख्म का रुतबा घायल बेपरवाह घटा देता है, दर्द को समूचा झेल जाने की चुनौती के सामने टाँको की क्या बिसात ?

मेरे इश्क के ज़ख्म
तेरी याद ने सिये थे
आज मैने टाँके खोलकर
वह धागा तुझे लौटा दिया

पर रात गुजर जाती है, जैसे दर्द गुज़र जाता है. जब आशा की पौ फटती है .

यह रात आज क्यो ठिठक गई
सियाही भी कुछ काँप रही
कहीं किसी विश्वास का
शायद जुगनू चमक उठा

'अन्नदाता' की मजलिस बेजबान जानो की तडपती असमत को बेकाबू कर जाती है, पर असमत नगी उघडी काया को खरीदार को सौंप प्यार की लाज उस तेवर मे बचा जाती है जिसे दौलत नही खरीद सकती

अन्नदाता।
मेरी जबान
और इन्कार ?
यह कैसे हो सकता है।
हाँ प्यार
यह तेरे मतलब की शै नही

इसी माहौल के एक शहर का रवैया देखिए—व्यग्य की इस चोट की कोई मिसाल नही है

किसी मर्द के आगोश मे
कोई लडकी चीख उठी
जैसे उसके बदन से कुछ टूट गिरा हो

इतना है, कुछ सचमुच इतना कि कागज चुक जाय और बात न चुके। पर अब बन्द करता हूँ जिससे मिठास एक-साथ बहुत ज्यादा न हो जाय। अमृता प्रीतम आधारत रोमैंटिक कवयित्री है। उनके राग और उसे मुखर करने वाली गिरा से घना प्रभावित हुआ। जिस अभिजात नागर के गायन मे गाँव और धरती का टटकापन है वह गायन कभी वासी नही हो सकता।

एक शब्द अनुवाद पर भी। सही पजाबी और हिन्दी की परस्पर दूरी कुछ इतनी कम है कि अनुवाद और मूल का सान्निध्य कायम रखने मे कुछ अस्वाभाविक प्रयत्न नही करना पडता। पर नि सन्देह अनुवादक ने उसी सान्निध्य को प्रभावशाली बनाने का तत्पर प्रयत्न किया है। यह अनुवाद मे प्रकट है। कवि की भाषा और भावो को यथातथ्य अनुवाद मे कायम रख सकना अनुवादक की शक्ति का परिचायक है, इस सफलता पर मैं श्री देविन्दर का साधुवाद किये वगैर नही रह सकता।

राजकमल प्रकाशन ने जो यह नये क्षेत्र मे पदार्पण किया है उसका मैं स्वागत करता हूँ। कविवर पन्तजी के विनय ने कवयित्री से जो अपनी 'भूमिका' द्वारा हिन्दी पाठको का परिचय कराया हे वह भी स्तुत्य है। सग्रह निश्चय हिन्दी कवियो के लिए चुनौती भी है, मिसाल भी।

३

तीन कविता-सग्रह

महज इत्तफाक की बात है कि दो सर्वथा विरोधी विषयों और एकान्तभिन्न शलियों के कविता सग्रहों का मुझे एक साथ आलोचन करना पड रहा है। दोनों प्रकार के सग्रहों का नखशिख प्राय एक ही युग म प्रस्तुत होकर भी उनके दर्शन एक दूसरे स सर्वथा भिन्न ह। उनके वर्ण्य विषय भाषा अनुभूति सभी दो प्रकार के हैं। 'परशुराम की प्रतीक्षा' के कवि रामधारीसिंह दिनकर की आयु ५५ स ऊपर है 'अकुर की कृतज्ञता' के स्रष्टा दिनकर सोनवलकर की ३० वर्ष और 'जो आकाशी' के रचयिता सतोष कनोडिया की २४ वर्ष है। दिनकर चौथाई सदी स प्राय ऊपर हिन्दी म कविकर्म करते रहे ह और उसके प्रधान कवियों म गिने जाने लगे ह। शेष दोनों के कविता सग्रह पुस्तकाकार प्रकाशन की दृष्टि स शायद उनकी पहली कृतियाँ हैं।

परशुराम की प्रतीक्षा म १८ कविताएँ हैं जिनम स ३ सामधेनी से ली हुई ह शेष १५ स्वतन्त्र और सभवत नयी है। कवि का कहना है कि सामधेनी म छपी हुई कविताओं का असली समय अब आगया है (दो शब्द)। कवि निसदेह अग्रसोची है जो अनागत भविष्य को अतीत म ही गर्भस्थ कर उचित काल आने पर उसका प्रसनिग्राम अपने पाठकों को दे रहा है। कविताओं म स अधिकतर ऐसी ह जो भले हो चीनी आक्रमण और तज्जनित भारतीय सकट को सामने रखकर न लिखी गयी हो निसन्देह उनका अन्तर जब तब उस सन्दर्भ म घट जाता है। ऑरो वच आफ नमलिटी का यह ज्वलन्त प्रमाण है—एका चल्ला वह वयमालिका।

इधर चीनी आक्रमण को लेकर अनेक कविताए लिखी गयी ह जिनम से कुछ निश्चय ही पर्याप्त प्रभावकर और समुत्तजक सिद्ध हुई ह पर अधिकतर ऐसी रही हैं जो अखबार भी नहीं कुवाच्य मात्र होकर रह गयी हैं। दिनकर के इस सग्रह का स्तर इनसे कुछ ऊँचा ही है यद्यपि उनसे इतनी अपेक्षा जानकारों को न थी क्योंकि सुना है वे युद्ध-सम्बन्धी कविताए लिखने म सिद्धहस्त हैं और

पिछले महायुद्ध के समय भी अग्रज मरकार के लिए वहुत-सी कविताएँ लिखी थी। वस्तुत 'एनार्की', 'समरशेष है', आदि कविताएँ तो हमारी सरकार पर जैसे प्रहार करती है। और, समझता हूँ, कविताओ के इस सग्रह की प्रतियाँ सरकार ही सबसे अधिक खरीदेगी। अब कविताओ के तथ्य पर एक नजर डाले। उनकी शैली के सदर्भ मे कुछ कहना व्यर्थ होगा क्योकि वह 'भारत भारती' की शैली का ही अधिकतर प्रसार है। सुनिए .

पर, हाँ, वसुधा दानी है, नही कृपण है,
देता मनुष्य जब भी उसको जलकण है,
यह दान वृथा वह कभी नही लेती है,
वदले मे कोई दूव, हमे देती है।

मनुष्य के भगीरथ प्रयत्न के उत्तर मे वसुधा का 'कोई दूव' दान का औदार्य क्या कर्णवत् सराहनीय नही है ?

ये पक्तियाँ 'भारत-भारती' मे प्राय चौथाई सदी वाद की है। मगर इस सूक्ष्म दर्शन से कही अधिक जो काव्य का काढा—अलकारशास्त्रियो ने कुम्भी आदि 'पाको' की असाधारण परम्परा प्रस्तुत की है—तैयार हुआ है वह नीचे की पक्तियो मे है। वह, साथ ही, विजय के लिए तिलस्माती तावीज भी है (वुद्धि को दिमाग से उतार पहले दिल मे ले जाइए, फिर उसे दिल की आग मे घोल दिमाग पर उल्टा चढा ले जाइए)—

विजय चाहता है, सचमुच,
तू अगर विषैले नाग पर,
तो कहता हूँ, सुन—
दिल मे जो आग लगी है,
उसे वुद्धि मे घोल,
उठा कर ले जा उसे दिमाग पर।

यह काव्य है! भारत की मानवीय भेडो को कवि शेर वना देना चाहता है, कहता है—

एक ही पथ, तो भी आघात हनो रे।
नि सत्व छोड मेषो! तुम व्याघ्र वनो रे।

एक ही पथ अव भी जग मे जीने का।
अभ्यास करो छागियो! रक्त पीने का।

सारी भेडे एक साथ अगर शेर हो जाएँ तो शायद शेरो की शेरियत खत्म हो जाए, क्योकि तव उनके आहार का ही अन्त हो जाए, यद्यपि छागियो के शेर हो जाने पर पीने के लिए रक्त का सर्वथा अभाव ही रहेगा। ऐसा

माहित्य विशा भा राष्ट्रभाषा को कन्‍धित कर‍ा क लिए पयाप्त हागा। एक पंक्ति है

पायूष चन्द्रमाओं का पकड़ निचोड़ो।

जो प्रत्यक्ष असत्य है ना स्पष्ट असम्भव है उसकी कल्पना क्या सामुन कोई अर्थ रखती है ? एक पंक्ति पढ़िए

धारा रोक यदि राह विरुद्ध चलो रे।

अब बताइए इसका क्या अर्थ लिया जाए ? जिस राह जाना हो उस ओर यदि हमारी गति की धारा रुकने लग तो हम उस बाधा का प्रयत्न न कर क्या उल्टा चलें याना अपने सकल्प क विरुद्ध ? क्या कोनी आक्रामक क सम्भ म उवसाअम की ओर बढ़ते बढ़ते उनम मुठभेड़ होते ही उसकी ओर पीठ कर दिल्ली की ओर चल पड़ ? पर विश्वास दिलाता हूं हिन्दी इतनी बापुरी भी नहीं है। उसम भाषा है शैली की चुस्ती है उत्तेजक अनुभूति की प्रक्षेपणीयता चुटीली अभिव्यक्ति है जिसके अनेक प्रमाण साथ के दिनकर सोनवलकर के संग्रह म प्रस्तुत हैं। काव्य चाहे वह युद्ध क निमित्त ही क्या न लिखा गया हो मात्र कंठ फाड़कर चिल्लाना नहीं है

मैं उतना ही कंठ फाड़, कुछ और जोर से
चिल्लाता चीखता युद्ध के जय गीत गाता हूं।

चौराहे पर खड़ा जोर से चिल्लाता हू।

और नतीजा यह होता है कि जो गाना है वह अनगाया रह जाता ⁻ कम म कम गीत हमको छू नहीं पाता। सोनवल्कर के शब्दों म

पर गीत जो दर्द जिसका है,
वह तो अनगाया रह गया।

वस्तुत मैं तो उवशीकार से वही कहना चाहूँगा जो उसने स्वय अपने स कहा ह

अरे उवशीकार!
कविता की गर्दन पर धर कर पांव खड़ा हो।
हमें चाहिए गम गीत उन्माद, प्रलय का
अपनी ऊंचाई से तू कुछ और बड़ा हो।

कविता की गदन पर भारी भरकम जिस्म क पांव पड़ते ही अभिव्यजना की सूक्ष्मता काफूर हो जाएगी। फिर मैं तो बस इतना कहना चाहूगा कि अपनी ऊंचाई स कुछ और बड़ा न होकर कवि कुछ छोटा ही बने!

दिनकर सोनवल्कर का यह संग्रह अंकुर की कृतज्ञता पढ़कर मैं गहरा तृप्त हुआ। समय-समय पत्र पत्रिकाओं म उनकी कविताएं पढ़ता रहा था। गहरी

अभिव्यक्ति, व्यग्य का चुटीला दश, कल्म का राज छिटपुट जाना हुआ था, नो यहाँ एकत्र मिला, ८८ कविताओ के इस मग्रह मे, जिसकी पक्ति-पक्ति बोलती है। शब्द-शब्द स्वानुभूति की गहरी अभिव्यक्ति है। 'हमीदन की बकरी', 'क्रान्ति, कथनी और करनी', 'दोहरे व्यक्तित्वो की गुलामी', 'इन्टेलेक्चुअल', 'नये कवि की शका', 'प्रणय नये आयाम', 'समकालीन रचनाकार के नाम' जैसे उत्कट व्यग्य है, 'अकुर की कृतज्ञता', 'दर्द कहाँ नही है', 'रीता टिन', 'तकदीरें', 'आस्था का मृगजल', 'अपना पराया', 'अनुभव', 'मुग्र दुःख', 'अपनी बात', 'हम', 'स्थिति बोध', 'अजनबी' आदि वैसी ही गहरी अनुभूति के परिचायक है। वैसे ही 'दीवाने आम', 'गली और रुमाल', 'पछी का नीड', 'गुलाब और काँटे,' 'अपरिचित को प्रणाम', 'चेहरे', 'समर्पण', 'दायित्व बोध', 'प्रतीक्षा', हमदर्दी के, स्थिति मे उबरकर आशा के, प्रयास के, सबूत है। कवि को कवि और आलोचक से भी कुछ कहना है, मुनासिब ही, कालिदास और भवभूति को भी कहना पडा था—स्थूल हस्तावलेपान्' कालोह्ययनिवर्घिविपुलाच पृथ्वी—पर सोनवलकर की आलोचक की आलोचना मे अपना राज है और उतना ही बडा वह व्यग्य भी है उन पर जो मम्मट के 'कान्तासम्मत' चर्वितचर्वण को तोते की तरह निरर्थक रटते रहते है और नयी कविता के भावशास्त्र विश्वनाथ के अनुशासन से साधना चाहते है।

'अकुर की कृतज्ञता' नयी कविता दृष्टान्त सग्रह है—शब्दो की रवानी, भावों की उत्तेजित परम्परा, अनुभूत प्रश्नो के द्विधा भाव, अभिव्यक्ति की चुस्ती, पदो का अगोप्य ससार, शैली की निर्बंध धारा—नयी कविता। कला और साहित्य के दो पक्ष हो सकते है—उद्देश्यपरक और उद्देश्यहीन, पर कलासजक। उद्देश्यपरक कविकृति महत्तर हो सकती है पर उद्देश्यहीन कृति उद्देश्य मे विरत होकर भी भावो की अभिव्यक्ति, शैली की चुस्ती और शिल्प के सौष्ठव मे सम्पन्न कलाव्यजक होने से त्याज्य नही हो सकती। जो आधुनिक कविता की आधुनिकता है वह अपने मे भी, सोनवलकर के परिवेश मे, स्तुत्य है। मैं सामाजिक यथार्थवादी हूँ, पर ख्रुश्चेव की भाँति नही, बल्कि पिकासो के आधुनिक कला के सदर्भ मे अभिव्यक्त आधुनिक भावो को स्वीकार करता हूँ, कि वर्तमान कला, आधुनिक कला, व्यक्ति की अभिव्यक्ति है, और मै नयी कविता को न केवल सह लेता हूँ बल्कि अनेकाश मे पुरानी कविता की तुलना मे उच्चतर सहलग्न स्वीकार करता हूँ। प्रमाणार्थ दिनकर और सोनवलकर एकत्र प्रस्तुत है, 'परशुराम की प्रतीक्षा' और 'अकुर की कृतज्ञता' के 'माध्यम' मे।

यहाँ उद्धरण देने के लिए स्थान का अभाव है, पर शायद उसकी आवश्यकता भी नही, क्योकि सग्रह की पक्ति-पक्ति बोलती है, जो अनुभूति-सत्य अभिव्यक्ति है। सादे लफ्जो मे अभिव्यक्त कितनी ताजगी है, कितनी गहराई? कितना दर्द

कवि की अस्वीकृत अभिव्यक्तियाँ के कथन में :

मेले में खोये हुए बच्चे की तरह,
मेरी अभिव्यक्तियाँ लावारिस भटकती हैं।

पुस्तक के बाहुल्य में उनके उद्धरणों का लोभ संवरण कर रहा हूँ केवल कवि के कलम के राज के माध्यम का और मकसद करने के लिए चार पंक्तियाँ उद्धृत करना चाहूँगा

धन के आगे कभी
जलम के आगे कभी,
जो झुकी नहीं
कलम यह मेरी है।

पर एक आध स्वर ऐसे भी है जिनकी ओर इशारा न करके रह जाना शायद कवि के तथ्य और कथ्य दोनों के प्रति अन्याय होगा। नयी पीढ़ी में अंकुश की परम्परा जगाती है और बुजुर्गों की पीढ़ी में खोखले आदर्शों कुंठा और विकृति का प्रतीक है अथवा दोनों बगैर एक दूसरे के प्रत्यभिज्ञ हैं यह सर्वथा अग्राह्य है। यह दृष्टि सत्य से उतना ही दूर है जितनी उन बुजुर्गों की दृष्टि जो समझते हैं कि नयी कविता सत्यानुभूति अथवा तथ्य से कोरी है। इसी प्रकार यह भी स्वीकार करना कठिन होगा कि दर्द और दुख में ही जीवन का राज है जिसमें दर्द की स्थिति का, बगैर उस के हल का प्रयास किये चुपचाप स्वीकार कर लिया जाए। मुझे प्रसन्नता है कि कवि ने अपनी 'प्रणय नये आयाम' में नयी कविता लिखने वाले अपने समानधर्मा कवियों की निर कुशता पर भी प्रहार किया है। निःसन्देह यह केवल साहस की ही बात न थी रुचि की भी थी कि कविता विशेष के अभिसार सम्बन्धी प्रसंग में सावधि कवयित्रियों के वास्तविक नाम लेकर उनसे प्रणय निवेदन किया जाए।

ओ आकाशी जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सताप कनाडिया का यह पहला कविता संग्रह है। एक आध बार पर बहुत कम मुझे इनकी कविताएं पत्र पत्रिकाओं में पढ़ने को मिली है। आज यह कविताओं का संग्रह देख प्रसन्नता हुई। पहले संग्रह की दृष्टि से निःसन्देह कविताएं सुन्दर हैं। भाव कहीं उलझे हुए नहीं हैं भाषा बोलचाल वाली आसानी से समझी जाने वाली तथा पाठ की है और कवि की सहज रोमांटिक प्रवृत्ति के बावजूद उसके उत्कर्ष की सहज ही आशा की जा सकती है। उसके प्रस्तुत संग्रह में ६० कविताएं संग्रहीत हैं जिनमें अनेक बहुत अच्छी बन पड़ी हैं। पहली ही कविता आईना चीनी आक्रमण के सन्दर्भ में लिखा गया है और कवि इनसान की क्रूर वहशत पर व्यंग करता है इनसानियत का सही दावेदार बनकर जब वह स्थिति की उपसंहार-स्वरूप कविता का अन्तिम पंक्तियों में कहता है

सोचता हूँ पीड़ा मे भर जाता हूँ,
अपनी ही शक्ल,
आइने मे देखकर डर जाता हूँ ।

निहायत सादी जवान मे कविता कहता हे

जैसे चिर वरदान हो गया कवि का वन्धन
झूम उठा जैसे सपनो का मेरा नन्दन
क्या कुछ तुमने मुझे दिया हे एक निमिष में
कैसे करूँ तुम्हारा बोलो तो अभिनन्दन !

भावो के साथ भाषा की सादी रवानी का एक दृष्टात पढिए

अभी हवा के चरण उठे थे, साफ गगन था ।
अभी गीत की लय मे डूवा हुआ पवन था,
अभी साँस मे जीवन था लहरो-सा गतिमय,
मन का पछी सपनो मे ही मूर्त मगन था ।

प्यार भरा स्वर लेकर जाने,
फिर कव कौन पुकारे !
क्यो हो इतनी दूर
धरा से जितनी दूर सितारे ?

क्षण भर स्वपन सजा कर मधुरे,
जीवन भर हम हारे ।
तुम हो इतनी दूर
धरा से जितनी दूर सितारे ।

नीचे उद्‌धृत पक्तियो मे उपालम्भ भी है, लाचारी की आत्मानुभूति भी

ढल चुकी हे साँझ काली रात आयी है अकेली,
जी रहा हूँ पर सफर मे साथ आया है न कोई ।
कौन बनता है किसी के प्यार का सम्वल यहाँ पर,
सोचकर हर वार चुपके से अँधेरी रात रोयी ।

सच, अँधेरी रात रोयी कि अँधेरी रात का अकेला प्यार का सम्वलहीन मुसाफिर अपनी निर्जनता पर रोया । 'जहर के दाँत' की कुछ पक्तियाँ उस व्यग्य की सृष्टि करती है जिसके आधार की इस धरा पर कमी नही

ज्ञान का आकाश है विस्तृत तुम्हारा
दृढव्रती तुम और कितने भव्य हैं सिद्धांत

४

वासवदत्ता

'वासवदत्ता' पर नजर पडते ही कुछ विजली-सी दौड गई। अतीत अन्तर मे घुमड-घुमड उठने लगा—भास की 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' स्मृतिपटल पर उठे, सुवन्धु की 'वासवदत्ता' एक वार कौंध गई, 'मेघदूत' की उज्जयिनी वाली 'उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्' धीरे-धीरे हृदय मे हिलने लगी, गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' और सोमदेव के 'कथासरित्सागर' के लावाणक नामक तृतीय लम्वक की दोनो तरगो की वाढ-सी आ गयी। हर्ष की 'प्रियदर्शिका' ओर 'रत्नावली' वरवस अपनी ओर खीचने लगी। 'वासवदत्ता' मैंने उठा ली। उसे खोला, जहाँ-तहाँ नजर दौडायी। वह भास और सुवन्धु की 'वासवदत्ता' न थी, कालिदास की उदयनकथा की नायिका भी न थी और न थी वह गुणाढ्य ओर सोमदेव अथवा हर्ष द्वारा ही प्रसाधिता चण्डप्रद्योत महासेन की दुहिता। वह थी प० मोहनलाल द्विवेदी की अपनी, निराली 'वासवदत्ता'। पढ चला मैं। वासवदत्ता वेश्या के साथ यह तो बुद्ध टपक पडे।

मैं पढ चला। एक अजीव कुतूहल वर कर चला था। वहुरूपिये अमाक्षिक पर लम्वे डग भरता चल पडा। एक साँस मे

'आज से वहुत दिन पहले की कहता हूँ वात—'

से लेकर

'हो गई मौन, कह पाई कुछ वात नही!'

तक पढ गया। और अन्त मे यदि कवि की वासवदत्ता की हृदय-स्थिति के शब्दो मे अपनी मानसिक-स्थिति का कुछ परिचय दे सकूँ तो मैं भी

'हो गया मौन, कह पाई कुछ वात नहीं!'

एक वार विचार उठा—भला बुद्ध से वासवदत्ता का क्या सम्वन्ध? 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' के कुछ कथानक धीरे-धीरे मन मे उठे, 'महावश' और 'दिव्यावदान' के कुछ चरित भी याद आये। फिर भी बुद्ध और वासवदत्ता के सम्वन्ध की पहेली न सुलझा सका। कथा-भाग अपरिचित न था, परन्तु उसमे कुछ

अजीर एतिहासिक प्राण स्प र्श होता जाता है। फिर पढ़ा

'स्वणयुग का खिला था मधुर प्रभात भारत के प्राची म '

इस फिर पन्ना— भारत क प्राची म - कुछ सहारा मिला सायद जावा या बाली का जिक्र हो। भारत क प्राची म भारत क बाहर क पूर्व क किसी देश का सहज निर्देश होता ह। फिर एक बार वासवदत्ता पर गया। अशोक के गुरु श्रेष्ठिपुत्र गधपुत्र उपगुप्त निर्य का दाप शरीर धार धार ना शान्ता द्वारा विकृत आकार म उठ खड़ा हुआ। शायद बुद्ध की आत्मा न भत हो उपगुप्त का कलेवर छीन लिया था। फिर यह भारत का प्राची कसा ? क्या यह कथा मथुरा की नहीं पाटलिपुत्र का ह परन्तु कवि न कथा प्रसग म पाटलिपुत्र का नाम तो लिया नहीं सम्भव ह वहा पश्चिम म उत्तर लिया रहा हो और उस मथुरा पूरबिया सी लगती हो। कुतूहलवश लौटा। शायद पल्लव का भूमिका-सी कुछ लम्बी-सा मिल जाय समाधान हो।

समपण पर नजर गयी— भगवान ईश्वर स्वरूप नात होकर भी अपनी महत्ता क कारण अनात महामहिम महामना महर्षि मननमान्य मालवीयजी के तपोपूत पादपद्मा म य सास्कृतिक रचनाएँ जो उन्ही के स्नेहांचल म प्यार दुलार पाकर इतनी बडी हुई है काशी विश्वविद्यालय का रजत जयन्ती के ऐतिहासिक अवसर पर समर्पित हुई है स्वय कस अनतिहासिक हो गयी हैं ? भगवान सरीखे महामना क नानबोधी क नाच जनित होन वाला यह परिपत्र सचमुच ही नगण्य है। और वह भी काशी विश्वविद्यालय की रजत जयन्ता क ऐतिहासिक अवसर पर यह सवथा अनतिहासिक मुहर ! प्यार दुलार म बढ़े हुए बालक सदा बालक ही रह जात है अथवा अधिकतर निकम्म।

पृष्ठ उलट लिया श्री मथिलीशरण गुप्त की शुभाशसा मिली। पन्ना— स्वच्छन्दतापूवक जिस प्रौढ़ता की ओर वह अग्रसर हो रह है — नजर रुक गयी। मन कुछ गुनन लगा—गुप्तजी न वह ता लिया परन्तु आगे बढ़कर वे स्वय अनथ कर बठ। उन्होंन धारणा का बाना उ लिया। वासवदत्ता का पाठ सुनकर व बहुत प्रभावित हुए और उन्ह स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ की अभिसार नाम की रचना का स्मरण हो आया। उस रचना का स्मरण शायद बहुतो को आया। रवीन्द्र के उच्छिष्ट नान स कितने ही कवि उदर भर है। स्वय गुप्तजी के साकेत पर रवीन्द्र का काव्य उपेक्षिता का छाप है परन्तु उन्होंन स य का गला न घोटा। द्विवेदीजी यदि चाहत ता रवीन्द्र म ही उस कथा का वास्तविक नायक उपगुप्त शिष्य मिल जाता परन्तु तब मौलिकता की साख कस रहती ? व रवीन्द्र स भी ऊँचे कस उठत ? स्वच्छन्दतापूवक वे चलते चल गए। उन्होंने न जाना आग खन्दक है। अलेक्जण्डर पोप न क्या कहा था—जहा फरिश्ते रेंगत हुए काँपत हैं वहा बुद्धिमान छलाँग मारत है।

पृष्ठ फिर उलटा। 'आमुख' मे प्रविष्ट हुआ। कवि ने बहुत बडी प्रतिज्ञा की है, कालिदास की चुनौती 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्—' से कही बढकर, भवभूति के 'मालतीमाधव' के आठवे श्लोक से कही अधिक आत्मविश्वास के साथ। —'भैरवी मे जहाँ इस युग की गतिविधि एव प्रगति का चित्रण है, वासवदत्ता मे वहाँ युग-युग की भारतीय सस्कृति के अकित करने का प्रयत्न है।' कवि ने इस प्रतिज्ञा के साथ जिस ऐतिहासिक रूप को हमारे सामने रखा है वह गलत और झूठा है। अगर इस प्रकार के और भी ऐतिहासिक सत्य कवि के गर्भ मे उचक रहे हो तो वह उन्हे कसकर दबा दे। भ्रूणहत्या का वह दोषी न होगा। तोलस्तोय का भी नाम कवि ने लिया है। मैं भी उन्हे कुछ नाम दूँगा—तुर्गनेव, दास्तॉएवस्की, गोर्की और श्लोखव, सोलेम ऐश, या कवि की अपनी रुझान का पुश्किन अथवा उससे भी निकट का बाइरन। ये नाम है जिनसे कवि सीखे। पर उनमे से एक भी ऐसा नही जो इतिहास का गला घोटता हो अथवा उसका मनन किये बिना उसकी घटनाएँ मौलिक बनाता हो।

आमुख के नीचे एक टिप्पणी है जिसे देख मै इस पुस्तिका की अन्त की ओर झुका—'सन्दर्भ' पढने। द्विवेदीजी ने इतिहासकार की लेखनी छीन ली है, 'आज से २००० वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध के समय मे वासवदत्ता नाम्नी वेश्या अपने रूप-यौवन से पाटलिपुत्र को उन्मत्त कर रही थी।' इस वाक्य का एक-एक शब्द गलत है। जो राष्ट्रीय कवि होने का दावा करे उसे कम-से-कम अपना इतिहास तो माज लेना चाहिए। आठवे दर्जे के लडके को इससे कही सही इतिहास का ज्ञान होगा। कौन नही जानता कि बुद्ध ईसा से कोई पाँच सौ वर्ष पूर्व हुए? 'ऐतिहासिको' को ठोकर लगाकर कवि ने अपनी स्वच्छन्द मौलिकता को बेलगाम छोड दिया। आज से २००० वर्ष पूर्व ईसवी सदी का आरम्भ होता है। उससे लगभग ६०० वर्ष पूर्व बुद्ध निर्वाण प्राप्त कर चुके थे और उनके लगभग २५० वर्ष बाद २७४ ई० पूर्व होने वाले अशोक के देशव्यापी शिलालेख खुद चुके थे, स्तम्भ खडे हो चुके थे। यवन देशो मे अशोक के मिशनरी पहुँच चुके थे, बौद्ध-धर्म सर्वत्र व्याप्त हो चुका था। लगभग १८४ वर्ष पूर्व ग्रीक-राज मिनेण्डर बौद्ध हो चुका था और पुष्यमित्र शुग पाटलिपुत्र से जलन्धर तक के बौद्ध-विहारो को अग्नि की लपटो को समर्पित कर चुका था। इसके बाद कवि के बुद्ध जनमते है। वासवदत्ता की कविवर्णित कहानी स्वय इस समय से लगभग २६० वर्ष पूर्व अशोक के गुरु उपगुप्त शिष्य के सम्बन्ध मे घट चुकी थी।

यह तो हुई बुद्ध के २००० ई० पूर्व होने की बात, अब जरा पाटलिपुत्र के जन्म का रहस्य सुनिये। कवि ने उसे अपने जादू से समय से बहुत पूर्व ही उत्पन्न कर दिया। उसे इतना भी ज्ञान नही कि पाटलिपुत्र बुद्ध की मृत्यु के बाद बसा। बुद्ध बिम्बिसार के समकालीन थे और उसके बेटे अजातशत्रु के

शासन क आठव वष म उनका निर्वाण हुआ। यत्ता॰ा क वज्जिया क आक्रमणा म ऊबकर स्वय उनकी विजय क लिए गगा और शोण क सगम-स्थान म अजात शत्रु न अपन स्कन्धावार खड किए और उनकी मृत्यु क बा॰ उनक पुत्र राजा उदायी न पाटलिपुत्र का दुग निमाण कर वहा अपनी राजधानी राजगृह स हटा कर बनायी। कवि क ॰निराम म बुद्ध क समय हा वासवदत्ता नाम्नी वश्या अपन रूप यौवन स पाटलिपुत्र को उन्मत्त करन लगी थी।

वास्तव म बात यह है कि अपनी मौलिकता क धन म द्विवदीजी को शायद पता नही चला कि जहाँ उनकी मधा ब्रह्मास्वादन क लिए हवा कनी धाम थी और वहाँ मन मारन का यही फल हुआ जो परन का हुआ करता है। अनु श्रुतियों का रसरसना कुछ हसी खल नही है। यदि उपगुप्त की कथा कवि ने सुधारी न हाती तो वह प्रसग म पूव ही पाटलिपुत्र का जन्म स्वर अनथ न कर बठता और न बुद्ध को हा २००० वष पूव रखता। इसन यह भा न सोचा कि बुद्ध क साथ इस वश्या वाली आख्यायिका का सम्ब ध करना कितना ओछा होगा। वह शायद समझता हो कि इस वणनक म बुद्ध की महिमा बढ जाएगी। परन्तु इस सम्ब ध म बस इतना ही कह दना काफी होगा कि किस गढे आख्यान म कवि क ईश्वर स्वरूप गाधी और माननीय या वश्या सम्ब ध म जिस ओसत म गौरव बढेगा उसा औसत स बुद्ध का भा इस कृति म बढा है।

अब कुछ अन्य कविताओ की एतिहासिकता पर भी थोडा विचार करें। कुणाल वाली कथा अशोक क समय की है। द्विवदीजी कहत है

> बीत कुछ वष,
> इतने ही मे दूर पश्चिम म
> शत्रुओं ने किया आक्रमण था राज्य म,
> भारी उपद्रव था खडा हुआ एसा
> थी जिससे आशका —
> कहीं यही चिनगारी बनकर
> न बने महाज्वाल
> लील जाय सारा साम्राज्य वडवाग्नि म।

हिन्दुकुश स हैदराबाद राज्य के भारी तक एकच्छत्र सम्राट क गौरव पर आक्रमण करन की बात द्विवदीजी का उवर मस्तिष्क ही सोच सकता था। इतिहास कहता है कि मध्य एशिया स यूरोप तक के राजा अशोक की शक्ति का लोहा मानत थ परन्तु हिन्दी क इस राष्ट्रीय कवि न एक आक्रमण गढ लिया। शायद उसन समझा हो कि इसस भारतीय राष्ट्रीय गौरव की कुछ श्रीवद्धि हो जाय। और यह आक्रमण भी साधारण न था। शायद सम्भव था कि यह

> लील जाय सारा साम्राज्य वडवाग्नि म।

सचमुच ही स्वरक्षा का कार्य कुछ ऐसा कठिन है कि कविजी अशोक के मन्त्रि-मडल की एक असाधारण बैठक भी करा देते है। और फलस्वरूप तक्षशिला की ओर कुणाल भेजा जाता है। द्विवेदीजी को शायद पता नही कि मौर्यो का विशाल साम्राज्य पाँच केन्द्रो से शासित होता था। पाटलिपुत्र से स्वय सम्राट् द्वारा, उत्तरी प्रान्तो का भाग तक्षशिला, दक्षिण प्रान्तो का इमिल, पश्चिमी प्रान्तो का सुवर्णगिरि और पूर्वी प्रान्तो का तोसली के कुमारो द्वारा। उक्त नगर उन प्रान्तो की राजधानी थे। द्विवेदीजी को जानना चाहिए कि तक्षशिला का शासक स्वय कुणाल था। उसे पाटलिपुत्र से भेजे जाने की आवश्यकता न थी। मजा तो यह कि कुछ पक्तियो के बाद कवि कुणाल को पाटलिपुत्र लौटा लाता है। फिर दूत कुणाल की आँख निकालने के लिए राजाज्ञा लेकर कही जाता है। कहाँ जाता है सो तो शायद कवि को भी पता नही। शायद तक्षशिला को! यह दण्डाज्ञा 'सेनाधिप' के पास जाती है बल्कि उससे भी बढकर 'नायक सरदार' के पास। यह 'नायक सदार' कौन था? क्या मौर्य शासन-प्रणाली मे उसका भी कोई नियत पद था? या यह आधुनिक नायव-तहसीलदार का कोई पुराना जोडीदार तो नही था? जरा लेखनी उठाने के पूर्व महाकवि ने कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' ही देख लिया होता। परन्तु उसे देखने के लिए कवि के पास समय कहाँ था? वह स्वय कहता है—'शीघ्रता के कारण प्रूफ का सशोधन सुचारु रूप से नही हो पाया।' इसी कारण तो ढेर की ढेर गल्तियाँ भरी पडी है। पर कवि क्या करे, जल्दी थी। यदि जल्दी न करता तो हिन्दू विश्वविद्यालय की रजत-जयन्ती पर उसका ऐतिहासिक ज्ञान चमत्कार कैसे पैदा करता? और फिर उस 'महामहिम भगवान् मालवीय' का साधुवाद उसे कैसे मिलता? और यह भी तो भूलने वाली बात नही कि उसका वह 'युगावतार गाधी' भी वही था जिसके सम्बन्ध मे वह अन्यत्र कहता है

> हे कोटिचरण, हे कोटिबाहु,
> हे कोटिरूप, हे कोटिनाम।
> तुम एक मूर्ति, प्रतिमूर्ति कोटि,
> हे कोटिमूर्ति, तुमको प्रणाम।

भाग्यवश कालिदास और भवभूति को ऐसी जल्दी न थी। उनके सामने न तो हिन्दू विश्वविद्यालय था और न थे पृष्ठपोषक। वे तो अपने चरितनायक राम तक को यह कहकर ललकार सकते थे, निष्ठुर व्यग्य कर सकते थे— "वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा"। विष्णु पुराण का कवि समुद्रगुप्त की दिग्विजय के बाद उसे ससार की स्वतन्त्रता कुचलने वाला कहता और अन्त मे इस बात पर सन्तोष करता है कि जैसे रघुवश के राघवो की कथा सदिग्ध हो गई है समुद्र-गुप्त को भी एक दिन भुला दी जायेगी। और उस पर टीकाकार व्यग्य करता

हुआ ऐश्वर्य की धिक्कारता है।

अब जरा फिर ऐतिह्य पर आइए। द्विवेदीजी को जानना चाहिए कि प्रत्येक प्रान्तीय कुमार शासक के साथ एक मन्त्रिपरिषद थी जो सम्राट की मन्त्रिपरिषद की भांति उतनी ही शक्तिपूर्ण थी। इन को उस मन्त्रिपरिषद के पास जाना चाहिए था। राज्य की शक्ति वास्तव में इस मन्त्रिमण्डल में थी और स्वयं अपनी इच्छा से अशोक अपना राज्य भी किसी को नहीं दे सकता था। कवि का वर्णन कि उसने तिष्यरक्षिता को जहाँगीर की भांति राज्य सौंप दिया निरर्थक है। राजा से भी कुछ अधिकार मन्त्रिपरिषद के अधिक थे। स्वयं अशोक के सम्बन्ध की एक कथा दिव्यावदान (पृ० ४३०-३१) में वर्णित है। उसने कुक्कुटाराम विहार को धन देना चाहा। मन्त्रिमंडल ने उसका विरोध किया और कुणाल-पुत्र सम्प्रति (जो युवराज था) से कहकर वह दान रोक दिया। अशोक ने पूछा— राजा कौन है? मन्त्रिप्रवर राधागुप्त ने कहा—देव (आप)। इस पर आंसू भर हुए (साश्रुदुर्दिननयनवक्त्रोऽमात्यानुवाच)। राजा बोला— क्या झूठ बोलते हो? राजा अशोक को बिना परिषद की आज्ञा के आधा सेव तक देने का अधिकार न था। कहाँ तो यह आदर्श कहाँ वर्तमान कवि का जिसमें अशोक जिसे चाहता है राज्य उठा देता है।

और यह महासभा मण्डप क्या बला है? कौंसिल हाल को तब सभा मण्डप अथवा समन्त कहते थे। शायद हिन्दू विश्वविद्यालय की जल्दी में हिन्दू महासभा का कवि को ध्यान हो आया और उसका स्वर गूंज उठा महासभा मण्डप में। तिथि व्यतिक्रमों से तो पुस्तक भरी है। इस कथा सम्बन्धी सन्दर्भ में कवि लिखता है (तिष्यरक्षिता) छल से तक्षशिला के क्षत्रप के पास राजाज्ञा भेजती है कि वह लघु कुमार कुणाल की दोनों आँखें निकालकर राज्य से निर्वासित कर दे। यह खूब! तक्षशिला का क्षत्रप तो स्वयं कुणाल था! और यह क्षत्रप शब्द क्या बला है? क्षत्रप तो ईरानी सम्राटों के प्रान्तीय शासकों का पद विशेष था जो अशोक के लगभग दो सौ वर्षों बाद भारत में शकों और कुषाणों द्वारा प्रचलित हुआ। फिर कुछ ही आगे चलकर अंधे कुणाल को राज्य देकर अशोक वन को चला जाता है। अव्वल तो अशोक के वन जाने की बात कल्पना मात्र है। फिर यदि धनराष्ट्र गद्दी पर न बैठ सके तो अंधा कुणाल कैसे बैठा? और इतिहास के अनुसार कुणाल तो गद्दी पर बैठा भी नहीं। उसके पुत्र सम्प्रति ने अशोक के बाद में शासन-रज्जु ली।

अन्त में 'महाभिनिष्क्रमण' नाम्नी कविता में एक लाइन है

चले आर्यपुत्र त्याग धवलि प्रासाद को।

एतिहासिक के लिए इस लाइन को समझना जरा टेढ़ा खीर है। अब तक एतिहासिकों का यही विचार रहा है कि गौतम ने महाभिनिष्क्रमण कपिलवस्तु में

किया था। वहीं उसने संसार छोड़ा, पिता, स्त्री, पुत्र, राज्य वगैरा। पाटलिपुत्र तब अभी जन्मा भी न था। परन्तु इस लाइन मे वह पाटलिपुत्र से महाभिनिष्क्रमण करता है। यह एक नई सूझ है, नई खोज। सारे बौद्ध साहित्य को कवि ने गलत साबित कर दिया। अथवा 'पाटलि-प्रासाद' का अर्थ कुछ और है ?

अब जरा भावो पर एक नजर डाले। कवि की भाषा मे ओज और प्रवाह है इससे कोई इनकार नही कर सकता। इसी कारण इस अनर्थ से बचने की भी विशेष जरूरत है। उदाहरणार्थ कुछ स्थल नीचे उद्धृत किये जाते है

वासवदत्ता मे कवि कहता है

थे न हम परतंत्र किसी बंधन मे,
आये थे मुगल भी न इस देश मे

क्या मुगलो से ही भारत का पारतन्त्र्य प्रारम्भ हुआ ? आर्यो के आगमन से बहुत पूर्व भारत भारतीयो का था। पर यह भारतीय कौन है ? आर्यो ने जब द्रविडो की सत्ता उठा दी तब भारत परतत्र न हुआ ? अथवा उनके बाद अनेक विजेताओ ने भारत विजय न की ? छठी सदी ई० पू० मे पजाब और सिंध का प्रान्त ईरानियो का था, फिर ई० पू० दूसरी और पहली सदियो मे ग्रीक और शको ने भारत पर राज किया। कुषाणो और हूणो ने भी भारत विजय की, फिर अनेक बाहरी जातियो ने, और तब कही पठानो और मुगलो ने।

एक अन्य स्थल पर कवि वासवदत्ता की लज्जा का वर्णन करता है

उन्नत कुचकलशो को अंचल से ढकती-सी
लज्जा से छुई-मुई बनती सिकुडती-सी

यह अचल कैसा ? क्या साडी का अचल तो नही ? सारी भारतीय तक्षणकला मे स्त्रियो के वस्त्रो मे उपरार्ध के लिए सिवा 'स्तनांशुक' के अचल तो लेखक के देखने मे नही आया। यह अचल एक बार बत्तीसवे पृष्ठ पर भी आया है। खैर अब जरा इतनी लज्जा वाली की पहली वाणी तो सुनिये

अतिथि देव !
यौवन यह अर्पित पद-पद्म मे है,
इसको स्वीकार करो,
यह न तिरस्कार करो,
यौवन यह, रूप यह, जिसे प्राप्त करने को
यती यत्न करते, तपी तपते पंचाग्नि नित्य,
बडे-बडे चक्रवर्ति मुकुट विसर्जित कर

चाहते अधर का दान, चाहते भ्रुकुटि का दान।
सप्त उर शीतल करो गाढ़ परिरम्भण द।

मिश्रजी शायद समझते हैं कि वेश्या का कोई गौरव नहीं उसकी कोई मर्यादा नहीं। मेरा दावा है कि यदि आज वासवदत्ता को इस चित्रण के उत्तर में कुछ कहना होता तो वे थूक देतीं। मैं नहीं समझता कि प्रथम मिलन में कोई पतिता वेश्या भी ऐसा प्रस्ताव कर सकती है। फिर

गौतम यह देखकर,
माया सब लखकर,
चकित से, विस्मित-से, भ्रमित-स, अपार-स,

(भला माया लख लेने पर भी बुद्ध की यह अवस्था क्या हो जाती है?)

लगे देखने सभी लीला वासवदत्ता की
रूप की,
यौवन की,
यौवन के आग्रह की,
प्राणों के कम्पन की,
सिहरन की
शान्त हो बोले साधु

(क्या यौवन के आग्रह ने साधु को अशान्त कर दिया था?)

देवी, क्या कहती हो?
सावधान हो के जरा सोचो तो
कहती क्या?
किससे फिर?
आज मैं अतिथि नहीं बनूंगा इस गृह में।

यह तो खूब रही। क्या यह वही बुद्ध थे जो लोकाओं को चुनौती देकर उनको विजय करते थे क्या जो श्रावस्ती के महाकान्तार में जब अंगुलिमाल डाकू के सकल्प की खबर मिली प्रहरियों के मना करने पर भी उससे मिले थे और फिर जिसे उद्धार दीक्षित किया था?

उर्वशी में नायिका अर्जुन के प्रस्ताव न मानने पर उस एकदम ललकार उठती है जिसमें व्यवसाय का रूप बिगड़ गया है (पृ० १६)। अर्जुन को शुभ कहकर सम्बोधित करना कुछ अजीब है। शुभा जरूर स्त्रियों के लिए आता है परन्तु शुभ पुरुषों के लिए शायद कभी नहीं। इस ही सरदार चूडावत में (पृ० २४ पर) नव चूनावत की अतृप्त वासना में कवि बहुत कुछ कहता है वह शायद— साथ ये न एक सद्भ —की स्पष्ट प्रकटेच्छा व्या सकता था। एक बात और। जब सरदार का घोड़ा चलता चलता अड जाता था तब कवि

कहता है

वढता था, अश्व भी न,
स्वामी का मुख देख, रुख देख।

'रुख देख' तो ठीक, पर 'मुख देख' कैसे ? एक पर्सनल कहानी पढी थी, उसके लेखक ने लिखा था—'लज्जा से मेरे कपोल लाल हो गये।' यह भी कुछ वैसा ही है। सरदार रण मे 'लक्ष-लक्ष नरमुण्डो मे' भूमि पाटता है, 'कोटि मुण्डमाल रणचण्डी के चरणो मे' अर्पित करता है। याद रखना चाहिए कि सारे हिन्दुस्तान की आवादी उस समय सोलह करोड थी और सेनाओ की कुल सख्या दो लाख से अधिक नही ठहराई जा सकती। कुन्ती जव रात्रि मे कर्ण मे मिलने जाती है तव अभिसार का रूप-सा खडा हो जाता है। कुन्ती एक स्थल पर कहती है

चख न सकी पुत्र तेरे जन्म हर्ष को।

भला जन्म-हर्ष 'चखा' कैसे जाता है ? ऐसे एक ही शब्द 'आर्य-पुत्र' का कवि अपने वर्णनो मे अनेक वार प्रयोग करता है। 'आर्य-पुत्र' शब्द का अर्थ तो रूढि-सा हो गया है 'ससुर के वेटे' के अर्थ मे। यदि पत्नी के स्थान पर प्रेयसी भी इसका प्रयोग करती तो किसी कदर क्षम्य था। कवि किस नाते करता है ? कुन्ती अपना 'स्रवित स्तन्य पय' कर्ण को दिखाती है। क्या यह शाब्दिक सत्य है ? और कुन्ती का यह कहना कि 'माँ का नि स्वार्थ स्नेह तुझको पुकारता है' कितना झूठा है ! यह प्रासगिक और साथ ही ऐतिहासिक सत्य भी है कि कुन्ती का अनुभव स्वार्थपर था। फिर

'कर्ण, वधु तू अर्जुन का, युधिष्ठिर का, भीम का, नकुल का,
त्योही सहदेव का सहोदर है,'

वधु तो ठीक पर कर्ण 'सहदेव का सहोदर' कैसे है ? कर्ण तो कुन्ती के उदर का और सहदेव माद्री के उदर का था। फिर वे 'सहोदर' क्योकर हुए ? क्या अनुप्रास के लिए 'सहोदर' शब्द का प्रयोग हुआ है ? एक उक्ति और अजीव है—'कर्ण तेरे वशज ये।' यह कैसे ? कर्ण क्या अपने भाइयो का पिता था ? वशज तो अध सज्ञा है।

गाली देने मे अशोक उर्वशी से वढ गया है। एक वानगी लीजिये .

'पुत्रघातिनी ! व्यालिनी ! कुचक्रधारिणी !
पापिनी ! पिशाचिनी ! कहाँ है कुलनाशिनी !'

ये उद्‌गार उस तिष्यरक्षिता के प्रति है जो

भय से विकपिता,
पदतल समर्पिता,
चेतनाहीन, मूर्छित-सी, धरणी मे पड़ी दीन,
कठिन अनुताप-सी,

घोर पश्चात्ताप की
जीवित अभिशाप की,
हत्या के पाप की,
फिर घोर पश्चात्ताप का हार पर भी
ठुकरा दिया मुझ चरण से कठोर ।
फिर बोला
छिन्न करो धड़ से शिर
अभी इस पापिनी का
घोर पुत्रघातिनी का ।'
अग-अग भेदो, छेदो शर से सभी शरीर

फिर तीक्ष्णधार तलवार लिये जल्लादों से सम्राट कहता है
'क्या रुके हो ?
चलाओ खड्ग
शिर को कन्धों के सम्बन्ध से करो छिन्न,
भिन्न भिन्न अग प्रत्यग करो ।'
यह चित्र उस अशोक का है जिसने देश विदेश में पशुओं तक के लिए चिकित्सालय खोले और ससार में शान्ति के सन्देश भेजे जिसने दिग्विजय छोड धर्म विजय की।
वासवदत्ता के पहले ही पृष्ठ पर द्विवेदीजी लिखते है—अपनी थी सस्कृति अछूत—यह अछूत क्या अछूता के अर्थ में है ? कही पाठक इसका हरिजन का अर्थ न समझ बैठें ! एक स्थल पर आता है (पृ० ३)—यह न तिरस्कार करो—यह शायद इसका का प्रतिनिधि है। फफोला पर छाला पर, घाव पर पीप पर (पृ० ६)—फफोले और छाले क्या दो चीजें है ? टाटालोजी की भरमार है ! रवीन्द्र में यह बीभत्स रूप नही मिलता । उर्वशी ने अर्जुन को (पृ० १३) अपने पद रज पराग से गौरवित कैसे किया ? क्या लात मारी ? उर्वशी अपने हाथो को स्वय पाणि पल्लव (पृ० १६) कहती है। क्या देवसभा में इन्द्र के साथ सदा रहकर भी उसने शिष्टाचार की इतनी सी तमीज न सीखी ? तपोमयी (पृ० १८) तो ठीक पर यह तपोयोग (पृ० २०) कैसा प्रयोग ? उर्वशी अर्जुन को एक स्थल पर गाली देती है—छली ! भीरु ! कायर ! पुरुष ! नृशस ! क्या पुरुष भी कोई कुवाच्य है ? या पुरुष होना ही एक अभाग्य है ? कानन अरण्य बीच (पृ० ३०) में क्या इन दोनो शब्दो के अर्थ भिन्न है ? कर्ण के पूछने पर कि तुम कौन हो ? कुन्ती उत्तर देती है—कुन्ती देवी ! राजमाता के कथन की यह मर्यादा खूब है। शायद केवल कुन्ती से काम न बनता। इसी कर्ण और कुन्ती में एक हास्यास्पद

भूल है। पृ० ३० पर वर्णन है—

'गहन अन्धकार, जिसका न आरपार,' और फिर (पृ० ३१)—'घोर गहन कानन मे, वन मे, निशीथ मे'—घोर वन, आधी रात मे जब गहन अन्धकार है, वहाँ—'छाया एक डोलती है'—फिर—'छाया एक और' आती है और पास' —यह समझ मे नही आया कि कर्ण और कुन्ती दोनो बिल्ली की औलाद है या उल्लू की ? उन्हे इतने अधेरे मे भी दीखता है और वह भी साधारण चीज नही बल्कि छाया ! एक बात और। यह छाया पडी कैसे ? छाया तो प्रकाश के कारण पडती है, बिना उसके यह सम्भव कैसे है ? फिर महाभारत वाली कथा मे तो कर्ण से नदी के तट पर कुन्ती मिलती है। यहाँ स्नान का प्रसग नही दिखाया गया। तब कुन्ती ने जाना कैसे कि आधी रात मे कर्ण घने जगल मे जाएगा ? कर्ण वहाँ गया ही क्यो ? द्विवेदीजी शायद यह समझते है कि कवि स्वच्छन्द है, उससे यह सब बाते नही पूछी जा सकती। इस प्रकार के स्थलो की 'वासवदत्ता' मे भरमार है, कहाँ तक उनकी तालिका दी जाय ?

द्विवेदीजी 'वासवदत्ता' के 'आमुख' मे कहते है—'भैरवी के साथ मेरी रचनाओ का एक युग समाप्त होता है। वासवदत्ता मे मेरी कविता का नवीन युगारभ है।' यदि 'वासवदत्ता' एक नये युग का आरम्भ करती है तो यह नवीन प्रयास सर्वथा असफल है। जी चाहता है कह दूँ—प्रथमे ग्रासे·

२

कवि अपनी बात इस प्रकार कहता है

"भैरवी के कवि का पक्ष यह है कि इस समय हमारे सामने सबसे बडा प्रश्न बन्धन से मुक्त होने का है—उसके पश्चात् और चाहे कुछ भी हो। सभी देशो मे जब आज़ादी की लडाइयाँ छिडी है, तब वहाँ के कलाकार और साहित्यकारो ने जाति तथा देश के उद्धार मे अपना स्वर मिलाया है। भारतवर्ष का कलाकार यदि पीछे रहता है, तब वह या तो मरा है या जीवित नही।

"वासवदत्ता के कवि का पक्ष है कि देश स्वतन्त्र तो होगा ही, इसमे सन्देह कैसा ? कवि से आशा की जाती है कि वह देश को आजादी के ही गीत न दे, किन्तु वे रचनाएँ भी दे जो उसके समाज, जाति, राष्ट्र के मेरुदण्ड आदर्श को सीधा रख सके। यदि देश स्वतन्त्र भी हो गया किन्तु उसका आदर्श, सभ्यता, सस्कृति, नैतिक पृष्ठभूमि पुष्ट नही है, तो वह जाति अधिक दिन तक अपने पाँवो पर खडी नही रह सकती।

"वासवदत्ता की नीव भैरवी की पृष्ठभूमि पर ही खडी हो सकती है, इसे विस्मरण नही करना चाहिये, क्योकि किसी भी राष्ट्र की सस्कृति, सभ्यता तब तक सुरक्षित नही जब तक वह स्वतन्त्र नही। युग ने करवट बदली है, भैरवी

उसका राजनीतिक प ा है वासवदत्ता सांस्कृतिक। एक शरीर है तो दूसरी आत्मा जिनके समन्वय से ही पूर्ण मानवता की प्रतिष्ठा सम्भव है।

अगर उत्कृष्ट वासना ने मेरे मन को आकृष्ट न किया होता तो मैं य रचनाए लिखने का साहस ही न करता।

वासवदत्ता मुझे उत्कृष्ट रचना इसलिए जान पड़ती है कि इसके पढ़ने के *पश्चात हमारी वासना क्षीण होती है और आत्मा ऊपर उठती है।* बारम्बार इस रचना के पढ़ने का अर्थ यही होगा कि जब कभी जीवन में कोई वासवदत्ता हमारे सामने इसी हाव भाव और कटाक्ष से यौवन समर्पित करेगी हम एक बार सजग हो जाएँगे। यह वासना उस समय हम गौतम के गौरव को प्राप्त करने का प्रलोभन हो नहीं देगी प्रत्युत आत्मशक्ति भी। यदि हम सचमुच ऐसा करते ही के समय वासना को नीचे दबा गये और ऊपर उठ गये तो इससे अधिक कविता से और क्या आशा करनी चाहिए ? यही मैं समझता हूँ साहित्य या कला का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है।

इसी प्रकार की उदात्त भावनाएं उर्वशी कर्ण कुन्ती एवं अन्य और रचनाओं में अपने ढंग से अलग-अलग हैं।

महात्मा टाल्स्टाय ने साहित्य या कला का जो उद्देश्य बताया है उसे रवीन्द्र बाबू ने प्राचीन साहित्य में उद्धृत किया है। उनका आशय बहुत-कुछ इस प्रकार है—जो कला क्रूर को दयालु कृपण को उदार भीरु को वीर दानव को मानव और मानव को देवता बना सके वही सफल है। इस वाक्य में उदात्त भावों को सद्विवेक सद्विचार सद्भावना को जगाना ही काव्यादर्श है। जो कला कविता हममें अच्छे संस्कारों को जागृत न कर सके समझना चाहिए वह अपने *आदर्श से च्युत है।* मैं समझता हूँ इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते।

इसी काव्यादर्श को सामने रखकर वासवदत्ता की रचनाएं लिखी गई हैं।

आशा है भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण के युग में इनका प्रकाशन असामयिक न समझा जायगा।

अवतरण लम्बा है परन्तु उसका देना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य था क्योंकि कवि की इस प्रतिज्ञा में उसका सिद्धान्त निहित है पूर्वपक्ष को यह देखना है कि (१) यह सिद्धान्त कला और साहित्य की आलोचनात्मक कसौटी पर स्वयं कहाँ तक खरा उतरता है और (२) इसको वासवदत्ता का कवि स्वयं अपनी रचना में कहाँ तक निभा सका है। *यह कवि की बात थी अब पूर्वपक्ष* की सुनिए।

(१) भैरवी का कवि बन्धन से मुक्त होने का प्रयास करता है और उन प्रयासों की सफलता के लिए गीत लिखता है क्योंकि वह जानता है कि 'हमारे देश के सामने सबसे बड़ा प्रश्न बंधन से मुक्त होने का है—उसके पश्चात और

विराम तो है नही, इसलिए इसका सम्बन्ध शायद अगली लाइन से हो, फिर भी तो 'पूत-पावन विचारो से अपना था दिवस' का कुछ अर्थ नही निकलेगा । फिर इस पहेली को कौन समझाए ?

एक स्थल पर उल्लेख है—'खिल उठी थी फुल्लमालती' (पृष्ठ २, पक्ति १८) । इसमे जब 'मालती फुल्ल' है, तब उसका फिर खिल उठना कैसा ? कही ज्ञानमहोदधि हमारे कवि ने 'फुल्लमालती' के अतिरिक्त 'अफुल्लमालती' की खोज तो नही कर डाली ! डा० साहनी इस नवीन स्पिसीज (Dvivedia Aphulla Malatia) की खोज के लिए अत्यन्त अनुगृहीत होते ! एक लाइन है—'उन्नत कुचकलशी को अचल से ढकती-सी' (पृष्ठ ३, पक्ति ५) । 'कुचकलशी' का प्रयोग हिन्दी कवियो को अब छोड ही देना चाहिए । इस शब्द का प्रयोग सस्कृत मे मातृत्वबोधी 'पयोधरो' के अर्थ मे हुआ है । परन्तु साधारण स्तनो के सौंदर्य को बताने के लिए तो इसका प्रयोग अत्यन्त अनुचित होगा । इसका प्रयोग करना नारीत्व का अपमान करना है । कोई युवती अपने स्तनो की उपमा घडे या मटके से पसन्द न करेगी, और अचल चाहे जितना बडा हो 'कुच-कलशी' को ढक नही सकता । इसी प्रकार 'परिरम्भण' (आलिगन) शब्द इस कवि का बडा प्यारा पद है । पूरी पुस्तक मे 'आलिगन' शब्द का शायद एक बार भी प्रयोग नही हुआ—पुराना होने मे कवि ने 'परिरम्भण' से उसे बदल दिया है । परिरम्भण का प्रयोग कम-से-कम चार बार हुआ है और एक बार तो वह केवल परिरम्भण से सन्तुष्ट न होकर 'परिरम्भण की यमुना मे' (पृष्ठ ७०, पक्ति ९) डूबने-उतराने लगा है । एक प्रयोग है 'यह न तिरस्कार करो' (पृष्ठ ३, पक्ति ११) । यह का प्रयोग यहाँ गलत है, 'इसका' होना चाहिए था । इसी प्रकार 'आर्यपुत्र' शब्द का गलत प्रयोग तीन-चार स्थलो पर हुआ है । इसका अर्थ है 'ससुर का बेटा', जिसका प्रयोग केवल पत्नी अपने पति के लिए करती है, परन्तु द्विवेदीजी ने सर्वत्र 'विशिष्ट' के अर्थ मे अपनी ओर से किया है, पति के अर्थ मे एक बार भी नही ! एक लाइन है

यह आया हूँ, आज देवि !
आज अनिवार्य था आना यहाँ मेरा यह !

पृष्ठ ७, पक्ति २-३

यहाँ 'यह' शब्द का दुबारा प्रयोग शायद उतना ही 'अनिवार्य' था जितना गौतम का लौटकर आना । एक शब्द का प्रयोग तो अपूर्व है, जैसा न कभी देखा, न सुना, न पढा—वह है 'अप्सरियाँ ।'

लासमयी, हासमयी, विविध विलासमयी,
सुन्दरियाँ, अप्सरियाँ, किन्नरियाँ

पृष्ठ ८, पक्ति ३

यह अप्सरिया क्या बला है ? यह क्या अप्सरा का स्त्रीलिंग है ? शायद अभी तो सुन्दरियाँ और किन्नरियाँ के साथ इसका तुक बैठेगा । निश्चय हमारा कवि ध्वनि का लोलुप है, कुरंग सा कहीं घुटने तोड न बैठे ! अप्सरिया का एक स्थल पर और प्रयोग है—अप्सरिया ने नवीन मदिरा से पात्र भरा (पृष्ठ ६ पंक्ति १५)—उसी प्रकार गलत । पृष्ठ ८ पंक्ति ६ में कवि ने मधुपर्क को पेयों में गिना है । जहाँ तक मैं जानता हूँ यह लेह्य था और सत्कार में प्रयुक्त होता था सुरा सुधा सोमरस की भाँति पीने में नहीं । देवासुर के स्थान में कवि ने देवसुर रखा है—देवसुर प्रेयसी—(पृष्ठ १० पंक्ति ५) । देव का वही अर्थ है जो सुर शब्द का है । यहाँ कवि का तात्पर्य देव और असुर से लक्षित होता है । पृ० १० पंक्ति १५ इस प्रकार है—म्लान श्री हुई थी इन विलास-लीन देवों की । इसमें म्लान श्री समस्तपद का इस्तेमाल गलत है । म्लान-श्री विशेषण है जिसका अर्थ हुआ—मलिन कांतिवाला । यहाँ पर कवि का भाव है—इन विलास लीन देवों की श्री हत हो गई थी । एक स्थल पर (पृष्ठ ११) स्वर्गंगा अभिसारिका बनकर सिंधु अधर चूमन जाती है । अभिसार के लिए तम का नील वसन पहनकर वह गहन कानन से होकर जाती है । लेकिन कवि को सूझी खूब—बनकर अभिसारिका, परन्तु सजकर शत तारिका —यह एक ही रही ! संस्कृत कवियों से लेकर हिन्दी के मध्यकालीन कवियों तक जिस जिसने अभिसार का रूप खींचा है सबने अभिसारिका को भूषणहीन कर अंधकार में भेजा है इसी कारण उसे नीला या श्याम वसन भी दे दिया है परन्तु हमारा कवि स्वर्गंगा को सौ-सौ तारिकाओं से सजाकर भेजता है । भला अभिसार भी तो लुकी छिपी एक छोटी मोटी शादी ही है और शादी छोटी या बड़ी आखिर शादी ही है । फिर गाजे बाजे न हों गैस मशाल न हों चरखी आतिशबाजी न हो तो वह भी कोई शादी है ? कालिख पोत दी मध्यकालीन कवियों और प्राचीन काव्य रीति पर ! क्यों न हो—किसी ने कहा तुम्हारे बट का एक चुटिया है जब हमारे बेटा होगा हम उसकी नौ चुटिया रखेंगे ! सो हमारे कवि ने कहा—मुंह तुम्हारी अभिसारिका का काला हो हमारी के तन पर तो लाल वसन होगा और उसके हाशिए पर शत शत तारिकाएँ टकी होंगी ![1] ठीक ही है फैशन में अब मंच की तूती गर्ल्ज़ गाइड्स या वाल्यान्ट्र है और यह सब घटाटोप कवि ने बाँधा है इसलिए कि वह उसी के अनुरूप उर्वशी को अर्जन के समीप अभिसार के लिए भेज सके । और उसके अभिसार का रूप क्या है ?—वह उजली रात (विभावरी) की भाँति सुन्दरी हारहार और पुष्पाभार में सजकर अंग अंग में अंगराग लगा कर और

---

[1] शुक्ला अभिसारिका भी होती है । पर वह भी न छिपी हुई न सुनी । —लेखक

मृगमद-पराग मलकर (परन्तु यह मृगमद-पराग क्या चीज है ? फूलो के पराग की वात तो सुनी है, पर कस्तूरी के पराग की नही। या मृग का अर्थ हाथी लेकर कवि ने उसके मद की वात तो नही सोची; पर उसके वहते मद का भी पराग कैसा ? पर एक वात है, मतवाले हाथी के गण्डस्थल पर जव मद वहता है तो कवियो ने लिखा है कि उस पर भौंरे मडराते है। कही कवि ने उन भौरो के पखो से झडते फूलो के पराग की वात तो नही कही !) मस्तक पर सौभाग्य-कुकुम का तिलक कर, लाल चरणो मे पाजेव वजाती, सैकड़ो किंकिणियाँ झनकारती, चराचर के सारे तारो को झकृत करती अर्जुन के पास जाती है। मूल पढिए

सुन्दरी ज्यो विभावरी
सजकर नव हीर-हार
पुष्पहार
अंग-अंग अंगराग,
केसर मृगमद-पराग
मस्तक कुंकुम सुहाग,
अरुण चरण,
नूपुर ध्वनि,
वजती शत किंकिणी
वजती-सी आगमनी (?)
मृदु-मृदु मधु झंकार
झंकृत-सी करती चर-अचर निखिल तार,

पृष्ठ १२, पक्ति ६-१२

अभिसार उर्वशी का है, किसी ऐरी-गैरी का नही, जभी तो वह सारे चराचर को जगाती हुई ऐलान-सी करती जा रही है—देखो, यह मेरा, उर्वशी का, अभिसार है ! अभिसार तो क्या है, जैसे घण्टा वजाता हाथी चला आता हो ! फिर भी कुछ वेजा तो होगा नही, प्राचीन पद्धति तो रह जायेगी—'गजगामिनी' सज्ञा तो सार्थक हो जायेगी ! अव जरा उर्वशी की व्याख्या सुनिए :

चली उर्वशी,
नाम सार्थक वनाने को

पृष्ठ १८, पक्ति १६-१७

नाम की सार्थकता समझ नही आयी। उर्वशी की उपमा वेदो मे उषा से अवश्य दी गयी है, पर यहाँ तो वह प्रसग भी नहीं है। शायद 'उर्वशी' शब्द के निरुक्त पर कवि की इच्छानुसारिणी व्याख्या स्वत. प्रमाण है—उस 'उरवशी'—'उर'

(हृदय) मे वशी वसने वाली—का कुछ खयाल सा आ गया जान पडता है। उसके नाम की सना उरु के 'अश धातु के सयोग से बनी है जिसका अथ है—व्याप्त। उसका जन्म पुराणो मे नारायण की जघा स माना गया है (देखिए हरिवश ४६०) और इसी कारण कालिदास ने भी अपनी विक्रमोवशी' म उस पिता के लोक (आकाश) को लाघती हुई कहा है उसे नारायण की जघा से उत्पन्न मानकर। एक प्रयोग बहुवचन का देखिए— उन्ही विश्वविजयी बाहु-पाश म (पृष्ठ १५ पक्ति १८)। पता नही उन्ही' एकवचन है या बाहुपाश बहुवचन। एक प्रयाग और देखिए

उत्सुक हो पूछा था—
कसे मैं निकाल सकी ?

पृष्ठ १६ पक्ति १७ १६

यहा उवशी पहले का हवाला देकर अजुन स पूछता है कि जब मन स्वगगा म स्नान करते हुए स्वणकमल अथाह जल से तोडा था तब तुमने पूछा था कि तुम फूल कसे निकाल सकी। यहा कवि ने हिन्दी का तरीका ताक पर रखकर अग्रेजी का अपनाया है। हिन्दी का तरीका होगा—कसे तुम निकाल सकी ? और यह सवाल भी तो बच्चो का सा है औत्सुक्य भी कुछ वसा ही है। फिर क्या अजुन उवशी का तर मकने का श्रय नही द सकता था ? पर अजुन की इतनी उधेड-बुन क्या ? भारतीय सस्कृति का पण्डित होन पर भी उसे इस बात का ध्यान न आया कि उवशी अप्सरा थी और अप्सरा उसे कहते ह जो नर से प्रादुर्भूत हुई हो ? सद्य स्नाता या सद्य स्नान' का कवि लिखता है मद्यस्नात (पृष्ठ १६ पक्ति १४)— बलिहारी ! एस ही सघात शब्द का प्रयोग सम्यक रूप स घात क अथ म किया गया है (पृष्ठ २१ पक्ति ४) जहाँ कठिनतम उसका विशेषण भी है— कोमलतम भावनाओ पर कठिनतम सघात — कठिन तम काफी नही था इसलिए सम की भी आवश्यकता पडा ! सघात वास्तव म अत्यन्त निकटता को कहते हैं जसे कणो के सघात म ठोस द्रव्य (मटर प्रकृति) बनता है। यह कवि का सघात कणाद को निश्चय विह्वल कर देगा। यह सघात एक बार और पृष्ठ २२ पर किया गया है और केवल उसी स सन्तोष न कर कवि न आघात और प्रतिघात का भी सहारा लिया है ! कुछ और रह गय—प्र परा अप सम अनु अव निस निर दुस दुर वि आङ नि अधि अभि प्रति उप सु उत !

चरित्र चाह —पृष्ठ २ पक्ति १८ म 'चरित्र' शब्द का प्रयाग अनुचित है। चरित्र और चरित' शब्दो म एक सूक्ष्म अन्तर है। चरित्र श्लाघ्य नहा है और इसका प्रयाग क्रिया चरित्र जसे प्रसगो म होता है। उसके स्थान म जीवन कहानी क अथ म जिस शब्द का प्रयाग होता है वह है चरित, जस

कृत और प्राकृत मे भवभूति का 'उत्तररामचरित्', दण्डी का 'दशकुमार-
त्', बाणभट्ट का 'हर्षचरित्', पद्मगुप्त का 'नवसाहसाकचरित्', विल्हण का
कमाकदेवचरित्', सन्ध्याकर नन्दी का 'रामचरित्', हेमचन्द्र का 'कुमारपाल-
त्', चन्द्रप्रभ सूरि का 'प्रभावकचरित्', गगादेवी का 'कपरायचरित्', जयसिंह
, चारित्र सुन्दरगणि और जिनमडनोपाध्याय के अपने-अपने 'कुमारपालचरित्',
हर्षगणि का 'वस्तुपालचरित्', आनन्दभट्ट का 'वल्लालचरित्', और हिन्दी
भी तुलसीदास का 'रामचरितमानस'। 'इधर मै यहाँ यह अभी' पृष्ठ २८,
क्त ५, मे कविता की धारा फूट-सी पडी है और उसमे सब एक साथ बह चले
'इधर, यहाँ, यह, अभी'! 'तेरे यश का कलश सुवर्ण' (पृष्ठ ३०, पक्ति ८)
यश के कलश का प्रयोग है। यश का स्तूप या स्तम्भ होता है कलश नही,
श प्रासाद के कँगूरे का होना है, या पानी का, या स्वय कवि द्वारा प्रयुक्त
च' का! एक और स्थल पर इसी प्रकार 'कलश' 'खडा' किया गया है और
सीके साथ-साथ 'बन्दी गान' भी!

लूट-लूट करके इन लुटेरों ने
खडा किया (?) प्रासाद उच्च भवन,
ध्वजा, कलश, तोरण और बन्दी गान!

पृष्ठ ६८, पक्ति १२-१४

क स्थल है

कर्ण देख कुन्ती का मुख विवर्ण, स्वर विवर्ण,
ढले जैसे द्रवित स्वर्ण,
उनके दृढ नेत्रो मे ढरक आये अश्रु चार।

पृष्ठ ३३, पक्ति ६-८

'मुख विवर्ण' तो ठीक, पर 'स्वर विवर्ण' कैसा? 'विवर्ण' कहते है रग उड
ाने को। चेहरे पर तो रग रहता है, जो उड जाता है, रक्त के प्रभावित
चार से, परन्तु यह स्वर का विवर्ण होना कैसा? और आँसुओ की उपमा
ोती से तो पढी-सुनी है, पर स्वर्ण से कभी नही। कालिदास को हमारे कवि
अपनी उपमाओ की सबलता मे मात कर दिया। आँसुओ की एक किस्म
ायद लाल-पीली भी होती है। फिर यह 'नेत्रो मे' आँसुओ का ढरक आना
ैसा? अन्तर के आँसू आँखो मे चढते है, ढरकते नही। अग्रेजी मे भी मुहावरा
—Tears welled up in the eyes—चढने का ही। और नेत्रो मे किसी
कार अगर चढ भी गये ये आँसू तो कवि ने उन्हे वहाँ एक राशि मे रहते भी
चार' कैसे गिन लिया? और अगर नेत्रो से बाहर कपोलो पर ढरके तो आधी
ात के गहन कानन अँधेरे मे कवि ने उन्हे देखा और गिना कैसे? पर यह
श्न शायद अनुचित होगा, क्योकि यदि उसी अँधेरे मे उसके कर्ण और कुन्ती

पर, कण-कण पर, तृण-तृण पर, (पृ० ४६, पंक्ति २०-२३)। अवश्य अन्य गिनाये स्थल 'वसुधा' से पृथक् है! तिष्यरक्षिता जब कुणाल की ओर आकर्षित होती है, तब सोच-समझकर। कुछ खिलवाड़ तो नहीं है, आखिर रानी है। कुछ साधारण जन होती तो मन सहसा दे डालती। तन समर्पित करने में चाहे कोई झिझक न हो, पर 'मन' समर्पित करने में निश्चय उसे कुणाल की राय अपेक्षित होगी। कुछ गजब की पशोपेश है। कहती है—'चाहती हूँ कर दूँ समर्पित मन तुम पर!' (पृ० ५०, पंक्ति १५) फिर पूछती है—'स्वीकृत करोगे इसे?' (पृ० ५०, पंक्ति १६) जरा 'समर्पित' और 'पर' के सम्बन्ध पर गौर कीजिए। ऐसे ही 'राज्य पर' नहीं 'राज्य में' आक्रमण होते हैं (५२, १२)। नये व्याकरण की सूझ है। जैसे कवि ने एक नये रस—शुष्क रस—की सृष्टि की है, वैसे ही एक नये व्याकरण की भी। आपके प्रयोग हैं 'राज्य-सद्म' (५२, ३), 'राज्यमुद्रा' (५६, ४), 'राज्याज्ञा' (५६, ८), 'राज्यसद्म' (६१, १२) राजसद्म, राजमुद्रा, राजाज्ञा से काम न चल सका! हमारा महाकवि 'महा' से नीचे किसी तरह नहीं उतरता—'महाप्रेम ही तो बन जाता तब महाघृणा!' (पृ० ५३, ८)। 'भिक्षा-प्राप्ति' में भी एक महाभिक्षु है, दूसरा महानृप, तीसरा महासेठ, चौथा महावणिक, पाँचवाँ महागान, छठा महादुर्भिक्ष। भिक्षुणी के लिए किस तरह महाकवि महाकंगाल हो गया है, पता नहीं। कहीं-कहीं तो अर्थ समझना असंभव हो गया है, जैसे गौतम को जब अतीत की स्मृतियाँ विकल करती हैं और वह बारी-बारी उन्हें याद करता है, तब कवि उड़ान बाँधता है

वृद्ध जर्जर का,
कुष्ठगलित नर का,
जिसे लिये जा रहे थे चार मलिन कंधों पर
भीषणतम शव का,
महादुख निर्भर का,

पृष्ठ ७५-७६

अब लगाइए अर्थ इस आखिरी लाइन का। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी अर्थ लगाने वालों को इनाम बाँटा करते हैं, अपने दुरूह स्थलों में इसे भी जोड़ लें! कुन्ती बार-बार अपने 'स्तन्यपय' की बात कहती है (पृष्ठ ३१, पंक्ति ९ और १६, पृष्ठ ४३, ३१)। क्या 'स्तन्य' न कहने से बात न बनती? या स्त्री के कहीं और से भी दूध निकलता है? एक मार्के की बात और। कवि समृद्धि की पराकाष्ठा मानता है 'दूध-भात' को

शिशुओं को खिलाएँ माताएँ आज दूध-भात।

पृष्ठ ४३, २२

मेरे एक मित्र है। एक बार हम लोग अपने-अपने बचपन की कुछ अजीब बात कहने लगे। मैंने कुछ अपनी कही दूसरे ने कुछ अपनी, फिर उन मित्र ने कहा—भाई मैं जब छोटा था तब सोचा करता था कि राजा लोग दाल ही से कुल्ले भी करते होंगे दाल ही से हाथ मुंह भी धोते होंगे और दाल ही से स्नान भी करते होंगे। उन्हें दाल इतनी प्रिय थी! दूध भात से भी कुछ ऐसी ही ध्वनि आती है।

वासवदत्ता में पुनरुक्ति दोष तो भरा पड़ा है। कुछ बानगियां लीजिए

अन्नी की सस्कृति अछूत **पूत पावन** विचारों से

पृ० १ पंक्ति ८

चाहते अधर का **दान**, चाहते भृकुटि का **दान**!

पृ० ३ पंक्ति १५

कभी **संदिग्ध भ्रम धारा** में बहती हो या?

पृ० १४ पंक्ति १६

पार्थ तो क्या यह भ्रम था मेरा नितान्त ही?

पृ० १८ पंक्ति १३

छलना प्रवंचना या मेरी भावना ही की?

पृ० १८ पंक्ति १८

हतचेतन अचेतन हुई उर्वशी!

पृ० २० पंक्ति १०

कानन अरण्य बीच

पृ० ३० पंक्ति ३

स्वप्न था या कि सत्य?

पृ० ३६ पंक्ति १

चलने लगा **कूटयन्त्र षडयन्त्र**

पृ० ५१ पंक्ति ५

चेतनाहीन मूर्छित-सी

पृ० ६० पंक्ति १८

गर्जे गम्भीर वज्रनाद-सा निनादकर
जैसे हो फटा वज्र
गिरा अशनि

पृ० ६१ पंक्ति १३

मृत्य **सामंत मन्त्री सभासद, सदस्य** सभी

पृ० ६२ पंक्ति १

ऋण लेकर उधार

पृ० ६७, पक्ति ३

आम्रकुञ्ज कानन मे, वन मे, उपवन मे

पृ० ६७, पक्ति ५

इनमे पुनरुक्तिया इतनी स्पष्ट है कि उनकी व्याख्या की आवश्यकता नही। मै केवल उन्हे मोटे अक्षरो मे किए देता हूँ। दूसरी पक्ति मे द्विरुक्त 'चाहते' और 'दान' को अगर 'माँगते' और 'मान' मे बदल दे तो अच्छा। भृकुटि का दान कोई नही चाहता, मान ही वहाँ सार्थक है। अन्य तीन पक्तियो (दूसरी, तीसरी और आठवी) मे पुनरुक्ति तो नही, समानार्थ शब्द-बाहुल्य है, जिनके बिना काम चल सकता था। जैसे, तीसरी पक्ति मे या तो शुरू का शब्द 'कैसी' रखा जाए या अन्त का 'या'। इसी प्रकार चौथी मे 'नितान्त' मे 'ही' स्वय काफी मात्रा मे है, पृथक् 'ही' की आवश्यकता नही। आठवी लाइन—स्वप्न था या कि सत्य—मे 'या' और 'कि' मे से किसी एक से काम बन जाएगा।

द्विवेदीजी ने मुहावरो का प्रयोग कुछ खास गम्भीरता से किया है। जैसे

आज्ञा दो देवि, करूँ—
मस्तक पर, आँखो पर,…

पृ० १३, पक्ति १२-१३

गोद भर आज मै बनूँ निहाल !

पृ० २१, पक्ति १५

शक्ति किसमे ?
जो सके बोल,
वाणी को सके खोल
एक असिघाट मे उतारा जाय वह भी असी

पृ० ६१, पक्ति १८-२१

मुहावरो के प्रयोग मे खास बात यह होती है कि वे जैसे हो वैसे ही उनका इस्तेमाल किया जाय। जैसे 'सिर आँखो पर' को 'मस्तक पर आँखो पर' नही लिख सकते। वैसे ही 'निहाल होना' मुहावरा है, 'निहाल बनना' नही। 'तलवार के घाट उतारना' एक बडा पुष्ट मुहावरा है, पर उसको हमारे कवि ने सुधार दिया है 'तलवार' को 'असि' से बदलकर। यहाँ सस्कृति की बात जो थी। उसने एक नया मुहावरा भी गढा है, खोल सकना, सुन्दर और गम्भीर—वाणी को सके खोल—बिलकुल नयी सूझ है। सारी 'वासवदत्ता' मे इस महाकवि ने वाणी खोली है। पर वाणी खोलकर कवि ने जो एक अजीब पेच से गाँठ दे दी है, उसका खुलना तो सचमुच ही कठिन है।

छन्दो, अलकारो और विरामो पर भी कुछ लिखना चाहता था, परन्तु

समझता हूँ ऐसा करना समय और कागज दोना का अपव्यय होगा। अलंकार तो कुछ अजाने ही वासवदत्ता म प्रयुक्त हुए है और विरामा के प्रति तो उनकी विशेष अनुरक्ति मालूम होती है। एक ही वाक्य तीन तीन स्टजा (पराग्राफ) तक चल जाते है बिना विराम के और उनम क्रिया कहा एक म है कहा दूसरे म। कही-कही तो एक पूरा स्टजा केवल एक शब्द जबकि का बनता है जो दो के बीच त्रिशकु सा लटका रहता है, और छन्द? मुक्त काव्य म छन्द की बात क्या कही जाय? फिर द्विवेदीजी की इन स्वच्छन्द पक्तियो की ध्वनि कुछ अपनी विशेषता लिये हुए है। दो लाइन सुन ही लीजिये

एक दिवस रग था,
नाटक प्रसग था,

पृ० ४६, पक्ति १ २

कुछ जोगाड़वाली ध्वनि सी सुन पडती है। एक बार सुना था—मजीरा पूछता है—किन कही? तबला कहता है—नौवाहजम्म कही बम्म कही!

चलते-चलते एक बात अपने कवि से कह दू। दुनिया म प्रेसो की सख्या बहुत बढ गई है जिसम जहा पुस्तको की प्राप्ति आसान हो गई है वहाँ एक दुर्भाग्य भी आ घटा हुआ है, वह है—छपे शब्दो का अत्याचार। इस सिलसिले म हम बचाना बहुत कुछ हमारे कवियो के हाथ है। यदि कुछ दुरस्त चीज न दे सके तो अपनी कलम तोड दें स्याही उलट दे जिससे हम उनके कहर से तो महफूज रह सके।

५

नदी के द्वीप

'नदी के द्वीप' दो बार पढ चुका हूँ। दोनो बार इलाहाबाद से हैदराबाद की राह मे। पहली बार प्राय साल-भर पहले, दूसरी बार अभी, पिछली रात। दोनो बार मुझ पर उसका गहरा प्रभाव पडा। दोनो बार मैं 'भीगा', गहरा 'भीगा'। इस बार तो इतना कि, यद्यपि 'कल्पना' के सपादक को प्राय साल-भर पहले ही इसकी आलोचना लिखने का वचन दे चुका था, लिखे बगैर न रह सका यानी उसमे इतना 'भीगा'—'डूबा'। 'भीगा' शब्द विज्ञ पाठक समझेगे, मेरा नही, श्री जैनेन्द्र का है, जो उन्होने श्री शिवदानसिह चौहान को पत्र मे लिखा और जो उन्होने स्वय मुझसे भी कहा था। चौहानजी ने उसे 'आलोचना' (वर्ष १, अक २, जनवरी, १९५२) मे छापा था। उसे पहली बार मैंने अभी-अभी पढा है।

'नदी के द्वीप' 'अज्ञेय' का दूसरा उपन्यास है। उनका पहला उपन्यास 'शेखर—एक जीवनी' मुझे बडा अच्छा लगा था, सिद्धातत भी, क्योकि उसकी वैयक्तिकता का व्योम बडा व्यापक है। मैं 'अज्ञेय' के कृतित्व का, उनकी कला का कायल हूँ, उनके दृष्टिकोण का बेजोड विरोधी। इसमे किसी प्रकार का सदेह नही होना चाहिए। कृति के दो पक्ष होते है—कला पक्ष और सिद्धान्त पक्ष। साहित्य या कला मे केवल सिद्धान्त पक्ष नही चलता, उसका आधार कला पक्ष है। पर सिद्धान्तविहीन कला पक्ष हो सकता है, चल सकता है, सिद्धान्त-विरोधी कला पक्ष भी। इसी दृष्टि से सिद्धान्तहीन अप्रगतिशील—प्रतिगामी तक—साहित्य (जैसे अतीत 'क्लासिक') की हम प्रशसा करते है, उसमे रस लेते है। महान् साहित्य दोनो से बढकर है, वह जिसकी कलाकारिता का स्वर उदात्त कल्याणकर सामाजिक सिद्धान्त हो।

सिद्धान्त के पक्ष मे, मेरे सामाजिक दृष्टिकोण से, 'अज्ञेय' मे ह्रास हुआ है, कला के पक्ष मे उत्तरोत्तर विकास। उनकी कला मँज गई है। कला की व्यवस्था प्रयोग-प्रधान है, रूपायित होकर ही विकसित होती है, मँजकर ही

उगलियो म एक हल्का सा निषेध या व्यजना का भाव आ गया। (पृ० ५३)

करी का प्रस्फुटन उसकी (प्रेम क विकास की) ठीक उपमा नहा है जिसका क्रम विकास हम अनुक्षण दख सक। धीरे धीरे रग भरता है पखडियाँ खिलती हैं सौरभ सचित होना, और डोलनी हवाए रूप को निखार देती जाती ह। ठीक उपमा शायद साँझ का आकाश है एक क्षण सूना कि सहसा हम देखत है अर वह तारा। और जबतक हम चौंककर सोचें कि यह हमने क्षण भर पहल क्या न देखा—क्या तब नही था ? तबतक इधर उधर आग, ऊपर कितन ही तारे खिल आए तारे ही नहा राशि राशि नक्षत्र मडल धमिल उल्का कुल मुक्त प्रवाहिनी नभ पयस्विनी—अरे आकाश सूना कहाँ है यह तो भरा हुआ है रहस्या स जो हमारे आगे उद्घाटित है। प्यार भी एसा ही है एक समुन्नत ढगन नही परिचित के आध्यात्मिक स्पश क नए नए स्तरा का उन्मष उसकी गति तीव्र हो या मद प्रत्यक्ष हो या परोक्ष वाछित हो वाछा तीत। आकाश चदोवा नहा है कि चाहे तो तान दें वह है तो है, और है तो तारा भरा है नही है तो शून्य शय ही है जो सब कुछ को धारण करता हुआ रिक्त बना रहता है (पृ० ८७ ८८)

तीसरे पहर फिर घूमन पहाड पर जाने की बात थी शायद उस पार तक पर दोपहर की सक्षिप्त नीद स उठकर उन्होंने देखा बादल का एक बडा सा मफेद साँप झील के एक किनार स उमडकर आ रहा है और उसकी बटौल गअल्क धीरे धीरे सारी झील पर फल रही है थोडी देर म वह सारी झील पर आकर बठ जायगा और फिर शायद उसका फन ऊपर पहाड की ओर बढेगा (पृ० २०४)

अवध की शाम मशहूर है लकिन हजरतगज म शाम होती नही दिन ढलता है तो रात होती है। या शाम अगर होती है तो अवध की नहा होती—वहा की भी नहा होती क्योंकि उसम देश का प्रकृति का कोई स्थान नहीं होता वह इन्सान की बनाई हुई होती है रगीन बत्तियाँ चमकील चीने कपडे प्लास्टिक के थर्र बटुए किरमिची ओठ कमान सी मूछो पर तिरछे टिके हुए और ऊपर स रिकाबी की तरह चपटे फेल्ट हैट और राह चलते आदमी जिनके सामन फीके लगन लगें एम बड़े-बडे सिनमाई पोस्टरो वाले चहरे—कितने छाया यथाथ मानव कितन बड़े-बडे सिनमाई हीरो—अगर लोग सिनमा क छाया-रूपो क मुख-दुख क सामन अपना मुख-दुख भूल जात हैं तो क्या अचम्भा उन छाया रूपो के सपनो एकदम मदहोश क सच्च या कल्पित कहानी प्रम बतातो म अपना यथाथ परिधि क स्नेह-वात्सल्य को उपेक्षी कर जात है तो क्या दोष यथाथ है हा छाया और फीका और छाया कितनी बडी है कितना रगीन कितना रसीला (पृ० ८१)

"किसी वेह्या ने ठीक कहा है—अंतिम समय मे मानव को अनुताप होता है, तो अपने किये हुए पाप पर नही , पुण्य करने के अवसरो की चूक पर नही, अनुताप होता है किये हुए नीरस पुण्यो पर, रसीले पा कर सकने के खोए हुए अवसरो पर · ···" (पृ० २६०)

"नदी वहुत चढ आई थी और यद्यपि लोग उठे नही थे, वह मानो वही से उनके सहमे हुए भाव देख सकता था · ··उदास, मलिन, गन्दा, वदवूदार श्रीनगर, गदली, मैला ढोने वाली नदी, उदास मैला आकाश, जैसे म्रियमाण आवादी पर पहले छाया हुआ कफन—भुवन ने ऊपर वाये को देखा, शकराचार्य की पहाडी भी उतनी ही उदास, केवल उस धुँधले तोते के पिंजरे मदिर के ऊपर की वत्ती टिमटिमा रही थी भोर के तारे की तरह धैर्यपूर्वक ····" (पृ० ३०८)

"मैने तुम्हारे साथ आकाश छुआ है, उसका व्यास नापा है· ·" (पृ० ३०६)

"वहाँ फूल थे, सुहावनी शारदीया धूप थी, और तुम थे। और मेरा दर्द था। यहाँ गरम, उद्गध, वौखलाती हुई हरियाली है, धूप से देह चुनचुना उठती है और तुम नही हो। और दर्द की वजाय एक सूनापन है जिसे मैं शान्ति मान लेती हूँ··· ·" (पृ० ३२५)

ऐसे स्थल 'नदी के द्वीप' मे अनेकानेक है। 'अज्ञेय' शव्दो के जादूगर है, जैसे भावो के भी। मै उनके शव्द-वैभव का अभिनदन करता हूँ।

पात्र—भुवन, रेखा, चन्द्रमाधव, गौरा—प्रधान, हेमेन्द्र, रमेशचन्द्र, गौरा का पिता, चन्द्रमाधव की पत्नी—गौण। हेमेन्द्र का व्यक्तित्व है, स्पष्ट, प्राय. उतना, जितना चन्द्रमाधव की पत्नी का। गौरा के पिता की पत्रमय छाया डोलती है, रमेशचन्द्र कथा के उपसहार का अन्यत्र विराम मात्र है, हमे छूता नही, वैसे ही जैसे काश्मीर के वाद की कथा नही छूती।

भुवन ! गंभीर, विचारशील, शिष्ट, व्यक्तिनिष्ठ, भावुक, कामुक, एकान्तप्रिय, कमजोर, लोकग्राही, असामाजिक। विचारशील पडित है। जटिल प्रश्नो पर विचार करता है। सत्य-तथ्य के अन्तर का विवेचन करता है। स्थिति की यथार्थता को तथ्य मानता है, उसके प्रति रागात्मक सम्वन्ध को सत्य। शायद सत्य की एक और भी परिभाषा हो सकती थी—जो इद्रियो से जाना जा सके या मस्तिष्क द्वारा अनुमित हो सके—और तथ्य उसी का आशिक आवान्तर-प्रकारान्तर। भुवन अपने को लोकग्राही कहता है, पर रेखा के अभिनदन मे अपने को छोटा करके। परन्तु त्वचा हटा देने पर उसका यह रूप दीख जाता है। उसकी लोकग्राहिता ही उसे अन्तत रेखा के प्रति उदासीन और प्रतिज्ञा-दुर्लभ कर देती है। सदा मे उसे गौरा के प्रति एक पतिसम्मत तृष्णा है।

प्राजापत्य जैसा उसके प्रति आकर्षण है, जो अंत में विवाह में ही प्रकट होता है यद्यपि विवाह के प्रति उपन्यास में दूर का संकेत मात्र है। चन्द्रमाधव उस विराट अनुभूति के प्रति खुले रहने का श्रेय देता है पर ऐसा है नहीं क्योंकि न तो उसमें संकीर्ण सामाजिकता से निकलकर वस्य विराटता में समा जाने की निर्भीकता है और न प्रकृति की सूक्ष्म अथवा स्थूल सत्ता को ही अपने आकाश में प्रविष्ट होने देता है उसके नित्य सान्निध्य के बावजूद। औचित्य से तथ्यत उदासीन होने के कारण ही खुली प्रकृति के प्रांगण में भी वह नमिवत्ति से 'मास्टरजी' से क्रमश भुवन मास्टरजी होकर भुवन दा हो गया था और उससे भी आगे शिशु और फिर वह जिसकी अपने स्वच्छंदताभास में वह ताणा बनाए हुए है। वह कहता भी है— मैं मानता हूँ कि जबतक कोई स्पष्टतया मनोवैज्ञानिक कम न हो, विवाह महज धर्म है और है व्यक्ति की प्रगति और उत्तम अभिव्यक्ति की एक स्वाभाविक सीढ़ी। निःसन्देह अवसर मिलने भुवन स्वयं वह सीढ़ी चढ़ने नहीं चूकता। रेखा एक स्थल पर अपने दो पहलू बताती है—'एक चरित्रवान प्रकृत मुक्त एक सभ्य और चरित्रहीन। वस्तुत उसके पुरुष काउंटरपार्ट भुवन के ये पहलू हैं— सभ्य और चरित्रहीन। बस इसी आधार पर चन्द्रमाधव है—असभ्य और चरित्रहीन और गौरा सभ्य और चरित्रवान। भुवन को वैज्ञानिक बताकर सर्वत्र उसकी दाम्भिक रश्मि-सम्बन्धी खोजों की ओर संकेत है पर एक स्थल पर भी उसके प्रति उसकी निष्ठा का सही उद्घाटन नहीं है। उसके इष्ट से यत्र तत्र भुवन के जाने की बात कही गई है पर सर्वत्र उसे रेखा अथवा गौरा परोक्ष या अपरोक्ष रूप से घेरे घेरे फिरता है। लेखक के कहने मात्र से पाठक को आभास होता है कि भुवन खोजी है पर कथा के घटनाक्रम से उसे कभी उसका ज्ञान नहीं होता। उसमें तो वह शुरू से अंत तक अकेले और मिथुन रूप में सदा कामुक यद्यपि एक समय एक के ही प्रति ही लक्षित होता है। वस्तुत उसका सत्य-तथ्य विवेचन भी उसी इष्ट की तैयारी-सा लगता है रेखा को प्रभावित करने के लिए। अनेक बार पाठक उसे पूछ बैठता है—भुवन का इष्ट क्या है—रेखा (गौरा) या विज्ञान? और उसका स्वाभाविक निर्णय पहले के पक्ष में होता है। सारे उपन्यास में रेखा के साथ उसकी एकांत बनना सजग है— कुसुमिया बाग में, यमुना के कछार में, नौकुछिया ताल के तट पर, कश्मीर की ऊंचाइयों पर सर्वत्र उत्तरोत्तर कामुक। कहीं वह उसके गीले पलक चूमता है, कहीं हाथ की उन्मुख स्तनों की बात की गहराई और कहीं वह रेखा में न केवल डूब जाता है वरन कामकथा की पृष्ठ और अग्र भूमि प्रस्तुत करता है। सारा सारा उसका निश्छल ऋजुता के नाते इतना भोला इतना कौतुकप्रिय शिशु हृदय लगती है पर वह सारा वस्तुत सभ्य चरित्रहीनता की तैयारी मात्र है।

चाहे कुछ भी हो।' 'भैरवी' का कवि और भी कुछ जानता है, वह यह कि 'सभी देशो मे जब आजादी की लडाइयाँ छिडी है, तब वहाँ के कलाकारो और साहित्यकारो ने जाति तथा देश के उद्धार मे अपना स्वर मिलाया है' और वह 'भैरवी' का कवि डके की चोट पर कहता है कि इस दशा मे 'भारतवर्ष का कलाकार यदि पीछे रहता है, तब वह या तो मरा है, या जीवित नही' और इसी कारण, 'भैरवी' का कवि गीत लिखता है—'दण्डी मार्च' और 'बापू' और इन गीतो के जोर पर वह होड करता है फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति के अमर गान 'ला मारसाई' से। परन्तु शायद वह इस बात को नही जानता कि जहाँ 'ला मारसाई' को गाती हुई फ्रान्स की किसान जनता पेरिस और बास्तिल की ओर अपने कदम बढाती है, वहाँ हमारा कवि भैरवी का राग अलापता है, और भैरवी का राग उस चिरन्तन भैरवी से ऊपर नही उठता, जिसकी टेक है—'अकेली जनि जैयो राधे जमुना के तीर।' उसकी 'भैरवी' मे स्वतन्त्रता का वह विकृत रूप है, जिसे कोई स्वाभिमानी मुक्त गौरव की वस्तु न समझेगा। नर का अभिमानी मस्तक विदेशी अत्तिल हूण के सामने झुका तो क्या और स्वदेशी हिटलर के सामने झुका तो क्या? मुक्ति इसमे नही है कि विदेशी सरकार की जड काट दी जाय, वास्तव मे यह स्वाधीनता का आवरण मात्र मिथ्या रूप है। मुक्ति इसमे है कि हेम्पडेन देशी सरकार के तख्त को अपना सीना लगाकर उलट दे, और जेरेमी बेन्थम अपने ही खूनवालो की घृणित सत्ता को जला डालने के लिए अपनी लेखनी से आग उगले। 'भैरवी' के गीत दासता की वे जोके है, जो हमारे शरीर मे नही हमारी विवेकात्मिका बुद्धि की जडो मे लगती है और उनका रस चूसती है। इस बात को वहाँ कवि भूलता है कि गुलामी चाहे हिटलर-मुसोलिनी की हो चाहे गाधी और शेक की, दोनो बुरी है। मेधा की दासता शरीर की शृखलाओ से कही मजबूत होती है, क्योकि शरीर जोर लगाकर अपनी शृखलाओ को तोड सकता है पर मेधा की दासता खून मे घुलकर वह मानसिक रोग बनती है जिसे अन्तश्चेतना कहते है और जिसका कोई चारा नही। 'भैरवी' का कवि जिस शृखला की सृष्टि करता है, वह आँखे खोलकर देखने न देगी, सीना तानकर चलने न देगी। उसकी मदद से कवि वह सेना प्रस्तुत करेगा, जो स्वय न सोचेगी, अनगपाल की अपेक्षा करेगी और अनगपाल के न रहने पर सुबुक्तगीन को पीठ देगी और यदि कही अनग-पाल आग मे कूदने की सोचे, आत्मघात के उपक्रम करे, तो भैरवी का कवि 'मरसिया' पढेगा। उसमे दम कहाँ, जो चकवस्त की डाँट मे अपनी आवाज मिलाकर उसे और बुलन्द कर दे

शोरे मातम न हो, आवाज हो जजीरो की,
चाहिए कौम के भीषम को चिता तीरो की।

सीना ताने स्वतन्त्रता का दीवाना ग्रीक युवक दिमास्थेनीज़ और पेरिक्लीज की ललकार दोहराता, होमर की पंक्ति गुनगुनाता, मस्ती मे झूमता निकल जाता था, तू भी अपने आख्यानो का चुनाव उसी आदर्श से करता, वासवदत्ता के कटाक्ष की चोट अगर तू गौतम की पीठ पर न कर दिल्ली-दरबार की नर्तकियो की पृथ्वीराज की आँखो पर करता तो १८३० का ग्रीक-प्रोटोकल हिमालय की चमकती चाँदी की पट्टी पर सूर्य अपने सुनहरे हाथो सोने के अक्षरो मे लिखा जाता। अगर बुद्ध या तिष्य की जगह पृथ्वीराज होता तो यद्यपि वह अपनी पैनी आँखो को वासवदत्ता की आँखो मे गडा देता, मगर कम-से-कम अपनी मूँछे मरोडता एक बार कुरुक्षेत्र के मैदान मे दुश्मनो की कतार मे हाहाकार तो मचा देता। अगर गौतम के स्थान पर हरिसिह नलवा होता तो चाहे जिन्दाँ की चोट से तिलमिलाकर दिल पर हाथ रखकर वह बढता, मगर कम-से-कम एक बार सतलज के काँठे से उठी बाढ हिन्दूकुश की चट्टान से तो टकरा जाती, तेहरान की छाती तो दरक जाती, अलबुर्ज से नौरोज के झूले तो उतर जाते। और नही, अगर ये रणबाँकुरे उसे सकर संस्कृति की देन मालूम हुए तो वह उन घटनाओ को रीझ-रीझ गाता, जिनकी शृखला मे विश्वविजयी सिकन्दर के पाँव उलझ गये थे। क्या उसे मस्सग और सगल-ध्वस की याद न आयी, जहाँ एक-एक स्त्री-पुरुष और बालक-वृद्ध ने शत्रु के भाले से कटकर ग्रीक नगर-राज्यो की स्मृति धुँधली कर दी थी? क्या उन क्षुद्रक-यौधेयो और प्रचण्ड मालव किसानो की कवि को सुध न आयी जो एक हाथ मे हँसिया धारण करते थे, दूसरे मे तलवार, जिनके एक-एक गाँव ने हँसिया फेक सिकन्दर की राह रोकी थी। क्या कवि को उन अस्सी हजार ब्राह्मणो की स्मृति भूल गयी थी, जिन्होने सिन्धु की तलहटी मे विजेता को चुनौती दे प्राणदण्ड पाया था और उन वीर गक्खरो की जिनकी शक्ति ने लौटने गोरी के प्राण पजाब मे रखवा लिये थे और क्या उसने वीर शिरोमणि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की कीर्ति पर भी स्याही फेर दी, जिसने लौहित्य से बढकर सिन्धुनद के सातो मुखो को पारकर काबुल और कन्दहार लाँघ, पारसीक नवेलियो का मधुमद उतार कोजक अमरान पहाडो की छाया से निकल बलख के हूणो को धूल चटा दी थी, जिसने वक्षु नद के तट पर खडे केसर के खेतो मे लोटते अपने तुरगो की सटो से केसर का पराग झाडा था? अभी जब देश को स्वतन्त्र होना ही है तब कवि को चाहिए कि वह प्राप्ति के पूर्व ही विसर्जन के गीत न गाए। अपनी अतीत संस्कृति के जो स्तभ उसने खडे किये है, वे कितने भौडे है, यह स्वय देखने की चीज है। पर उसकी बात फिर।

कवि कहता है कि 'वासवदत्ता' की नीव भैरवी की पृष्ठभूमि-मुक्तिभूमि पर ही खडी हो सकती है, इसे न विस्मरण करना चाहिये, क्योकि किसी भी

व्यापकता से घबराकर उनको यहाँ उद्धृत न कर सका !) युग के करवट लेने पर द्विवेदीजी ने 'भैरवी' मे उस युग का राजनीतिक खेत फैलाया और उस खेत मे उसकी तरल नीव पर 'वासवदत्ता' सस्कृति का शिलान्यास किया। अब उसके ऊपर देखिये क्या खडा होता है, मकबरा या कीर्तिस्तम्भ। भैरवी-रूपी शरीर मे वासवदत्ता-रूपी आत्मा पैठी है। जन्म दुःख है, इसे बौद्ध भी मानते है हिन्दू भी। आत्मा शरीर के बन्धन मे जकडकर जीव बनता है, आवागमन के दुःख झेलता है, सस्कार उसे उस चिरन्तन दुःख का स्मरण कराते रहते है। सस्कारो से सस्कृति बनती है। वासवदत्ता की याद सस्कार है, वासवदत्ता कथानक वह सस्कृति है जो भैरवीरूपी शरीर-जाल मे जा फँसा है, जीवन-घट मे जा डूबा है, उस आत्मा का जीवन बडा कष्टसाध्य है। उसका फिर उस शरीर से उद्धार कैसे हो, उसे निर्वाण कैसे मिले? उपगुप्त शिष्य यदि स्वय फँसे होते तब तो गौतम 'तथागत' होकर, बुद्धत्व प्राप्त कर, उन्हे छुडा लेते, पर यहाँ तो द्विवेदीजी ने स्वय बुद्ध को ही फँसा दिया!

और सुनिए—वासवदत्ता द्विवेदीजी को 'उत्कृष्ट रचना इसलिए जान पडती है कि इसके पढने के पश्चात् हमारी वासना नीचे दबती है और आत्मा ऊपर उठती है।' पहले तो कुछ शब्दो का प्रयोग इतना अनजाना आजकल हिन्दी मे होने लगा है कि समझ मे नही आता कि रूढि शब्दो को कहाँ तक फैला-फैलाकर खीच-खीचकर समझा जाय। उसके लिए शायद सुकरात शैली अख्तियार करनी पडेगी। आत्मा का अर्थ यहा क्या है—क्या वह मनमानी मनश्चेतना, जो फिर जिज्ञासु को प्रश्नात्मक नही होने देती? और यह द्विवेदी-जी की सम्मति अपनी रचना के सम्बन्ध मे है। आपने अपनी आत्मा को तेल की तरह फैलाकर सबके कपडे गन्दे कर दिये है। वासना की बात तो क्या-क्या कहूँ? सुना है, होमियोपैथ रोग को उभाडकर उसे अच्छा करते है। द्विवेदी-जी ने उनके भी कान काट लिये है। वासवदत्ता की कथा से पहले तो ये पाठको की वासना का उद्दीपन करते है, फिर उसे दबाने की चेष्टा करते हैं। वासना को जगा देना आसान है, पर उसको दबा देना कुछ आसान नही। वासवदत्ता के रूप और मदभरे अनुनय का जो कवि चित्रण करता है, उसके सामने उसके शमन करने वाले बुद्ध वामन-से लगते है; पीव और छालो को धोने वाले कम्पाउडर से ऊँचा उनका आकार नही उठता और पाठक घृणा से उस ओर से मुँह फेर लेता है, उसी घृणा मे बुद्ध भी विस्मृत हो जाते है। सच बात तो यह है कि पीव-खून लपेटे हाथो वाले बुद्ध को देखना तो शायद उनका अनन्य भक्त भी न पसन्द करे। अस्तु, वासवदत्ता की विलास-मादकता की ऊँचाई मे अश्वघोष के उस बुद्ध का उन्नत शरीर बहुत छोटा हो जाता है। वासवदत्ता का रूप कैसा है?

एक तरुणी दिवागना-सी,
कवि कल्पना-सी
विधि की अनूप रचना-सी
सुंदरी प्रणय अभिलाषा-सी
मादक मदिरा-सी
मोहक इंद्रधनु-सी
और फिर गमा वागवल्ना जब
आनत हो चरणों में पाणिपल्लव कर संपुटित,
आँखों से जादू-सा फेरती,
उन्नत कुच कलशों को अंचल से ढकती-सी
लज्जा से छुई मुई बनती सिकुड़ती-सी
वाणी वाणी में घुलने लगकर आजिजी में आनरामा हो बोली कि
'अतिथि देव !
यौवन यह अर्पित पद रज में है
इसको स्वीकार करो
यह न तिरस्कार करो

यौवन यह रूप यह जिसे प्राप्त करने को
यती यत्न करते तपी तपते पंचाग्नि नित्य
बड़े बड़े चक्रवर्ती मुकुट विसर्जित कर
चाहते अधर का दान चाहते भृकुटि का दान !
तप्त उर शीतल करो गाढ़ परिरम्भण दो।'

जो स्वय यह सब देखकर 'चकित-सा', 'विस्मित-सा', 'भ्रमित-सा' है, क्या लौटा सकता है ? इसी लिए तो मैदान छोडकर वृद्ध भाग जाता है—"आज मैं अतिथि नही बनूँगा इस गृह मे।" बनाता कौन है तुम्हे अतिथि ? यहाँ क्या 'आँगने मे गिल्ली' खेलना है ? यहाँ जरूरत है शिव-सरीखे ऊर्ध्वरेतस् की, जो एक पाँव गन्धमादन पर रखे और दूसरा कैलाश पर, फिर उमा को लेकर ताण्डव-लास्य मे वातावरण को घनीभूत कर दे, अथवा उस 'कठिनद्रव' कृष्ण की जो इस प्रस्ताव के उत्तर मे काम की रचना करे और सिर झुकाकर कह उठे 'मम शिरसि मडन देहि पद-पल्लवमुदारम्।' पर यहाँ तो इसी द्विवेदी-स्रष्टा द्वारा निर्मित वृद्ध की लुज काया की छाया इस आँधी के सामने कहती है

> **देवि, क्या कहती हो ?**
> **सावधान होके जरा सोचो तो**
> **कहती क्या ?**
> **किससे फिर ?'**

वृद्ध तो यहाँ ऐसे ढिठिया पडे, जैसे कलक्टर साहब की शान मे किसी ने कुछ कह दिया या किसी वकील ने डिप्टी साहब के इजलास मे जुरिस्डिक्शन का सवाल पेश कर दिया। आखिर क्या कह बैठी वासवदत्ता ? यह घुडकी कुछ अपने-आपमे तो इतना जोर रखती नही, फिर इसमे क्या चीज है, जिससे वासना दबकर आत्मा पख मारने लगे ? कवि की अपनी पक्ति, जो दूसरे सम्बन्ध मे कही गयी है (उर्वशी, पृष्ठ २१, पक्ति ५), सही-सही इस विडम्बना को प्रकट करती है—'नारीत्व पर तूने किया है प्रतिघात।' (नर होकर हो नरत्वहीन।) अरे! इस हरकनवाला तो जीवन के कुरुक्षेत्र मे शिखण्डी द्वारा मारा जायगा।

द्विवेदीजी ने साहित्य और कला का उद्देश्य पूरा कर दिया। 'इससे अधिक कविता से और क्या आशा करनी चाहिए ?' 'ऐसे परीक्षा के समय वासना को नीचे दबा सके' तो सूर्य, चन्द्र, इन्द्र और अश्विनीकुमारो, सबका एक साथ घर पर धावा होगा। द्विवेदीजी का खयाल है कि नित्य-स्नान कर 'वासवदत्ता' को बाइबिल बनाकर पाठ करने का एक विशिष्ट फल होगा। ये कहते है, 'बारम्बार इस रचना को पढने का अर्थ यही होगा कि जब कभी जीवन मे कोई वासवदत्ता हमारे सामने उसी हाव-भाव और कटाक्ष से यौवन समर्पित करेगी, हम एक बार सजग हो जाएँगे।' हद हो गई! समझ नही पडता—हँसे कि रोएँ। सन्तोप की एक ही बात है कि सभी वे भाग्यवान् नही होते जिनके सामने वासवदत्ता-सी अपना रूप पसारकर बैठ जाएँगी। उसके लिए कृष्ण होना चाहिए, नकुल, उदयन या तिष्य! इस बात को भी कविजी न भूले कि ऐसी

वासवदत्ता को अंगीकार कर मनुष्य वारांगना-रूपमय एक जीव का त्राण करने का पुण्यभागी होगा और उस जीव और फफोलों से बचाकर सुखी पत्नी बनायेगा जिसे फिर न तिष्य की आवश्यकता होगी न बुद्ध की।

टाल्स्टाय और रवीन्द्र बाबू का उद्धरण देते हुए श्री द्विवेदीजी कहते हैं कि 'एक वाक्य में उदात्त भावों को सद्विवेक सद्विचार सद्भावना को जगाना ही कार्यादर्श है। जो कला कविता हममें अच्छे संस्कारों को जागृत न कर सके समझना चाहिए वह अपने आदर्श से च्युत है। मैं समझता हूँ इस सम्बन्ध में दो मत बड़े जोर से हो सकते हैं। निचोड़, जो ऊपर कवि ने दिया है चाहे टाल्स्टाय की राय का हो चाहे रवीन्द्रनाथ का है वह गलत। मैं गलत शब्द के पहले विशेषण नहीं जोड़ना चाहता क्योंकि यह विचार पूरा पूरा गलत है। सारी कला का उद्देश्य प्रयमत और केन्द्रित रस की धारा बहा देना है। यदि उदात्त भावों का सद्विवेक सद्विचार सद्भावना को जगाना ही कार्यादर्श है, रस का संचार नहीं तो वह कला पुलपिट से बोलने वाले ईसाई 'पिता' के सरमन में क्वचित् होगी। पर अनेक बार तो कला मानवता की कमजोरी है, उसका स्खलन। और उसका आरम्भ नन्नरी (मठ) में तब होता है जब कोई भगिनी धर्मपिता के सामने कनफेशन (पापस्वीकरण) करता है कुछ धर्मपिता के उपदेश में नहीं। कला का आरम्भ परमात्मा के 'नानफल न खाने वाले उपदेश' में नहीं है बल्कि शैतान के बरगलाने में है जिसके फलस्वरूप हव्वा पत्तों से तन ढकती है और आदम का सर्वांग उन पत्तों में खो जाता है। सद्भावना सद्विचार जनन वाली कला अनेक बार पेडेंटिक होगी रससाविणी नहीं। कुफ्र छोड़कर सुकर्म करो—इस कला से कोई सरोकार नहीं। भारत में नृत्य-गान और अभिनय की कला को पेडेंट्स की सलाह से जब छोड़ दिया गया तब उसका एकमात्र आश्रय अपावन वेश्या का घृणित प्रकोष्ठ बना—वासवदत्ता का छज्जा न कि गौतम का जेतवन। कलाकार की कृति उसकी आडम्बरशून्य जैसी देखी वैसी सजायी आकृति और कभी कभी उसकी अपनी जोड़ी निखारी अनुभूति कला है—वह जिसे मरडिय के एगान्स्ट की तरह सब पुकारकर कह सकें—It is you it is me it is everyone of us. तोल्स्ताय की अनाकरानिना के येनों वाले प्रसंगों में स्वचर हैं पढ़ती है पता नहीं। कला उनके विरक्त की गलत्पतनशीला नायिका की अनुभूति में है। ऐसी अनुभूति को जैसी देखा वैसा कह देने के कारण ही आज का रूसी साहित्य रनना ऊँचा उठ गया है। इसी कारण तुर्गनेव दास्ताएव्स्की गोर्की इसाकाव और दिगिर उपन्यासकार साहित्य एवं सभी शुद्ध कला की दृष्टि में तालस्तोय से बड़े हैं। इसाकाव का एक वाक्य है The father looked at the daughter took her to the farm bound her hand and foot and

शक्ति से नही वरन व्यक्तिगत स्वाभाविक प्रतिभा की मुन्दरता से। और चूकि इसी (गन्दित आदि क) वातावरण को गामने रखकर वासवदत्ता की रचनाएँ लिखी गई है वासवदत्ता कला की वस्तु नहा हो सकी।

(२) अब तक तो कवि द्वारा की हुई प्रतिमा पर सिद्धात की पूवपक्ष द्वारा जितनाना हुआ अब उसी सिद्धात की कसौटी पर कवि की कृति को ही कसकर देख यह क्यो तक गफल होती है। यह परख अगले म पिछले कई पराग्राफो म ही आरम्भ कर दी गयी है। नीच वाक्यों पर विचार करेंगे। तब भी दराध स्थल अभी वासवदत्ता नाम की कविता म भी रह गय हैं जिनकी ओर इशारा किया जा सकता है। ऐसा एक स्थल इस प्रकार है

यौवन यह रूप यह जिसे प्राप्त करने को
यती यत्न करते, तपी तपते पचाग्नि नित्य,

यह एक जनरल वणन है। इसम कहाँ तक उदात्त भाव सद्विवक और सद्विचार का निवाह हुआ है इस पाठक स्वय समझ ल। तब क यती और तपस्वी क्या सचमुच वासवदत्ता क यौवन और रूप को ही प्राप्त करने के लिए यत्न करते और पचाग्नि तापते थ? युवकों क लिए यह प्रसग अच्छा आदश प्रस्तुत करेगा!

अपने उदात्त नायको के चरित्र चित्रण म तो द्विवेदीजी ने कमाल किया है। बुद्ध की सबल मूर्ति के बारे म ऊपर लिख आया हूँ जरा अजुन का हाल सुनिए। अजुन इतना कुल्मगज और बुद्धू है कि उवशी क खुलकर प्रेमनिवेदन के बाद भी कुछ नहा समझ सकता। उवशी कहती है

मुग्ध हो गई हूँ गुणी!
रूप लावण्य पर, विक्रम पर यश पर
इन भुज विशाल पर

उन्हीं विश्वविजयी बाहुपाश मे
आश्रय दो आय मुझ,
आई हूँ चरण शरण
करने दो हृदय वरण

आदि, और यह बहुत स्पष्ट और आवश्यक मुद्राओ क साथ वह कहती है

अनुपम सुघराई से
अभिनव अँगडाई से—

इसके बाद भी क्या किसी को उवशी क अभिप्राय क सम्बन्ध म धोखा हो सकता है? परन्तु निपट अनाडी अजुन अभी तक छन्द की कडिया ही गिन रहा है

के विषय है। काव्य मे भाषा ही काव्य-शरीर का वह आकर्षक रूप है और उसके प्रवाह की अकृत्रिम मधुर ध्वनि ही कानो मे बहने वाली सुधा-धारा है। 'वासवदत्ता' मे प्रयुक्त भाषा निश्चय उसके वस्तु-निकाय के अनुरूप है, जैसा होना चाहिए था और कहीं-कहीं शब्द-योजना भी सुघर बन पडी है, जिससे प्रादुर्भूत ध्वनि-प्रवाह भी जहाँ-तहाँ आकर्षक हो उठा है, परन्तु अधिकतर उसके स्थल कृत्रिम और प्रयोग गलत है। कहीं-कही तो कवि ने साधारण भाषा तक के प्रयोग मे असाधारण भूल की है, जो हास्यास्पद हो उठी है। कुछ शब्दो के तो शायद वह अर्थ ही नही जानता और उनके प्रयोग से उसका काव्य कई स्थलो पर दूषित हो उठा है। शब्दो के कुछ निरर्थक और दोषपूर्ण प्रयोग हाल की हिन्दी-कविता मे कुछ विशेष रूप से होने लगे है। प्रस्तुत काव्य की भाषा पर अब कुछ विचार करेंगे।

पहले कुछ गद्यात्मक प्रयोग देखे। गद्यात्मक से मेरा तात्पर्य है काव्य-माधुर्य-विरहित काव्य जिसे अग्रेजी मे 'प्रोजेक' कहते है। गद्य मे लिखे पद्य-ध्वन्यात्मक वाक्य तक को भारतीय आचार्यो ने काव्य माना है (वाक्य रसात्मक काव्य), पर इस उदार परिभाषा के अन्तर्गत भी कवि के अनेक स्थल नही आते। सच पूछिए तो 'वासवदत्ता' मे ऐसे अरसात्मक वाक्य—'शुष्क काष्ठ तिष्ठत्यग्रे' के जोडीदार—भरे पडे है। कुछ-एक को यहाँ उद्धृत करना अयुक्तियुक्त न होगा। 'वासवदत्ता' की पहली ही पक्ति है

आज से बहुत दिन पहले की कहता हूँ बात—
जब कि

इसको दो पक्तियो मे रखा गया है। इसको किस तरह से कविता की पक्ति कहा जाय—यह मैं समझ न सका, हालाँकि मैंने इसे कई बार उलट-पलट कर पढा। इससे कही अधिक जान शायद 'आल्हा' की उस लाइन मे रहती है, जिससे ढोलक के स्वर के साथ गाने वाला उस वीर-काव्य का आरम्भ करता है। 'जब कि' पद को दूसरी लाइन, या पहली और तीसरी लाइनो को जोडने वाली कडी कहे, यह बताना कठिन है। इसी प्रकार अत्यन्त सूखी एक लाइन है—'आये न थे मुगल भी इस देश मे।' यह लाइन तो किसी इतिहास-ग्रन्थ मे भी कुछ अच्छा वाक्य न कहलाएगी, हालाँकि काव्यबद्ध इतिहास की पक्ति को साधारण इतिहास के गद्यात्मक निबन्ध मे डाल देने से उसकी कान्ति कुछ चमक जानी चाहिए। इटली का सुप्रसिद्ध लेखक कासानोवा जब वोल्तेयर से मिला तब वोल्तेयर ने उससे पूछा कि तुम इतना सुन्दर गद्य कैसे लिख लेते हो? कासा-नोवा ने उत्तर दिया कि अपने गद्य के टुकडे पहले मैं पद्य मे लिख लेता हूँ। इस उद्धरण से तात्पर्य यह है कि कहा तो कुछ गद्यकार अपने प्रवाह मे माधुर्य लाने के लिए पद्य की टुकडियो का प्रयोग करते है, और कहाँ हमारे कवि पद्य

गत सारा जीवन ही विनान विरहित रेखा गौरा के कोमल-मादक मोह स अभिभूत है। कोई बजा बात न थी यदि अपनी खोज मे श्रम स विकल भुवन रेखा की तरलता ढूंढता और शिव की भाँति एक पग गधमादन पर दूसरा कलास पर रखता और अतराल को रेखा की काम स्पदित देह स भर देता उस कामवल्लरी के अगाग म उम आदिम वनलेपन स प्रविष्ट होता जो वस्तुत मानवता की कोमलतम व्यजना है अकृत्रिम सभ्य की उस मूलभूत मानवता की जब तक यान जो उसे क्षणभर प्रकृतिस्थ कर देती है जिसकी परम्परा म पुरूरवा और विश्वामित्र हैं पवन और दुष्यन्त हैं शिव और शातनु और जिसके पौरुष की परिणति है—ओजस्वी आयुस कोमल शकुन्तला वीयवान अर्जुन कुमार हनुमन्त सिंहविक्रम भरत देवसेनानी स्कद सत्यसध भीष्म। शष तो हरिणी खुरमात्रेण मोहित सकल जगत । भुवन के चरित्र का यह विनानाभास ही उसकी अविकसित मूल उदात्त जिनासा पर धुध की भाति छाकर 'मास्क' बन जाता है एक झूठा चेहरा जो उसके दोनो रूपा म प्रधान है।

भुवन रेखा का मह छूता है उसके साथ विवाह की बात चलाता है जो पाठक क गले नहा उतरती। साफ लगता है झूठ है। दूर की गौरा उस प्रश्न पर व्यग्य बन उठता है। फिर जब वह रखा से भागता है उसके पत्रो का उत्तर तक न देकर अर्थात क्रूरता और कमजोरी का आचरण करता है तब अपनी उदासीनता की सफाई रेखा पर अजात की हत्या का आरोप लगाकर देता है। बीच म भुवन को कभी उसकी सुधि न आई आज एकाएक क्यो? और पिता का मोह अजात स नही जात से होता है। यह सवथा अस्वाभाविक है। पुरुष से पूछो—उसे प्रिया पुत्र से प्रियतरा होती है। नारी से पूछो—उस पुत्र प्रिय से प्रियतर होना है। सो यह हानि वस्तुत मा की है रेखा की भुवन की नही और भुवन का यह नि सतति पितत्व का आक्रोश सवथा पोला हो उठता है झूठा बचाव मात्र। पर उदार रेखा उसे भी सह लेती है। साझे अनुभवा का सपजन ही उनके बीच दीवार-सा कसे खडा हो जाता है समझ म नही आता यदि हम यह न मान लें कि—लेखक के ही शब्दो म—भुवन की प्रवत्ति पीछे देखन की नही थी हठात कभी अतीत की किरण मानस को आलोकित कर जाए वह दूसरी बात है।' फिर भला भुवन उन्नीयमान गौरा को न देखकर रेखा को क्या देखे? तुलियन की ओर पीठ कर मसूरी क निविड निशीथ के गभगृह को क्या न देखे बगलौर के लान को क्या न देखे जहाँ उसके समाजसम्मत प्राजापत्य का सफल प्रारम्भ है? इस झूठ से तो वहा सच है जो लेखक न स्वय प्रसगवश अयत्र कह दिया है—स्त्री होते हुए भी उसन (रेखा न) वह साहस किया है जो शायद भुवन म नहा है। रेखा भुवन की उस कमजोरी को गौरा क प्रति उसके साथ को देख लेती है। वह

उसके पृष्ठ ३५२ पर छपे पत्र मे अभिव्यक्त है। और ३५७ पर प्रकाशित अपने पत्र मे तो वह जैसे उसका प्रच्छन्न अतरग ही खोलकर रख देती है—"तुम्हारे जीवनपट का एक छोटा-सा फूल (हूँ।) मेरे विना वह पैटर्न पूरा न होता, लेकिन मै उस पैटर्न का अत नही हूँ।" कैसे होओ जब आगे गौरा है और अभी अनवुने पट के विस्तार मे जाने कौन-कौन ? भुवन के "भीतर तो कुछ बरावर भरता जा रहा है और कुछ नया उसके स्थान पर भरता जाता है जो स्वय भी मरा है या जीता है (स्वय भुवन को) नही मालूम।" वह अब गौरा के 'एक-एक उडते ढीठ वाल को आशीर्वाद-भरी दृष्टि से' गिनता है पर उसका यह 'अवलोकन विलकुल नीरव' होता हुआ भी, उसके वक्तव्य के वावजूद, 'निराग्रह, नि सपर्क' नही है। गौरा के साथ वह शायद अपने अन्तिम 'पडाव' तक पहुँच गया है। उसके साथ फिर एक बार पुराने 'शिशु' और 'जुगनू' के आलोड-प्रत्यालोड करता है, यद्यपि रेखा के विवाद के वाद उसकी स्वाभाविकता वर्वर हो उठती है। परन्तु पृष्ठ ४३० पर उद्घाटित उसकी मनोवृत्ति उस मनोदशा को नगी करती है, यद्यपि तर्क वचन के साथ (जो सर्वथा झीना है) कि भावुकता के अतराल मे दोनो एक साथ समा सकते है, रेखा भी, गौरा भी, और शायद और भी। 'क्या हम एक के वाद एक नही, एक साथ ही एकाधिक जीवन नही जीते ?' सही, पर हम उसे दो चेहरो का जीवन कहते है, जेकेल और हाइड का जीवन। फिर सयम क्या वस्तु है ? 'इलाही कैसी-कैसी सूरते तूने वनाई है' ·· मैं पूछता हूँ, फिर चन्द्रमाधव और भुवन मे अन्तर क्या है ? एक असभ्य चरित्रहीन है, दूसरा सभ्य चरित्रहीन। हमारे समाज पर दोनो की कामोदर छाया है, एक की नगी, जिससे हम सतर्क है, दूसरे की प्रच्छन्न, जिससे हम मुग्धवचित है। कौन अधिक घातक है, क्या मुझे कहना होगा ?

रेखा गभीर, विचारशीला, शिष्ट, व्यक्तिनिष्ठ, भावुक, एकान्तप्रिय, साहसी, मनस्विनी, लीक की चुनौती, असामाजिक है, साधारण नारी नही है। समाज मे उसे ढूँढ पाना सहज नही—यदि उसकी अस्वाभाविक स्वच्छन्दता, आभिजात्य, औदार्य मिल भी जाय तो उसका साहस न मिलेगा, न तप, न चिंतनशीलता, और सभी एकत्र तो शायद नही ही। विवाहिता परित्यक्ता है, शाश्वत खडिता का परिताप। वह अभागिनी हिन्दू नारी की साधना से सहती है। कोमल हृदय है, कोमलागी शकुतला, उसी की भाँति विरहविधुरा 'वसने परिधूसरे वसाना, नियमक्षामधृतैकवेणी · शुद्ध शीला · दीर्घ विरहव्रत त्रिमर्ति'। परन्तु उसके जीवन मे दुष्यत नही है। है, आया है, भुवन, पर वह महाभारत का दुष्यत है कालिदास का नही, जो उसकी साधना का समानधर्मा हो सके, तप मे सत्य को साधकर ऊपर का वक्तव्य कर सके, उसे प्रणत होकर अपना सके। रेखा उसे

सब-कुछ दे देती है। अपना स्वत्व तक नही मांगती पर पात्र की अपात्रता उसके औदार्य पर व्यग्य बन जाती है उसकी साधना पगु बर विरक्ति। वह सीपी म बन्द है समाज की नहीं है उच्च मध्यवग की पुत्तलिका होकर भी उसम उसका चाचल्य नही स्वभाव का गाभीय है चिंतन की शक्ति है उस समाज का ओछापन उसका छिछोरापन फूहडपन आवरणमात्र स ढका कामुक भुक्खडपन उसमे नही। वह सबको समझती है चन्द्रमाधव को गौरा को भुवन तक को—एक की मक्रिय नीचता दूसरी का आडम्बरहीन शुद्ध अविकृत मानस तीसरे का सौजन्य उसका साधारण भिन्न व्यक्तित्व उसकी कमजोरी और साहसहीनता भी। वह जानती और कहती है—" दाव दोनों (पुरुष और स्त्री) खेलते है। लेकिन हम अपना जीवन लगाती है और आप—हमारा। सत्य है कम से-कम रेखा के जीवन म तो निश्चय। उसका जीवन निरन्तर दाव पर लगता रहा दूसरों ने लगाया पुरुष ने—पहले हेमेन्द्र ने (जिसने पु० प्रिय की रूप समता के कारण उसे ब्याहा था) फिर भुवन ने (जिसकी क्षण की साधना को दन ने उसे यदि नष्ट न कर दिया तो निर्जीव तो कर ही दिया), और फिर रमेश के रूप म नियति ने (जिसने उसके व्यक्तिनिष्ठ व्यक्तित्व को आवरणहीन व्यक्तित्वहीन औदार्य की छाया दी)।

रेखा मानो एक शीतल आलोक से घिरी हुई, उसके आवेष्टन स सधी हुई अलग दूर और अस्पृश्य खडी है। उसके शब्दों म उसकी वाणी म चित्रों को उभारकर सामने रख देने की अदभुत शक्ति है। जो रास्तेवाले (लीक ग्राही) है उन्हें रास्ते से एक इच भी इधर उधर नहीं ले जाना चाहती। उसकी अपनी बात दूसरी है। कहती है मेरे आगे रास्ता ही नही है। सच है वह लीकग्राहिणी नहीं है उसके आगे रास्ता सचमुच नही है। एक बार एक पुरुष ने उसे खोला है फिर बन्द कर दिया है दूसरे ने खोला है और सामने दीवार खडी कर दी है तीसरे ने फिर खोला है पर वह मन को समझाने का रास्ता है रास्ता नहीं है पडाव है जहाँ वह अब बैठ गई है जीवन का अन्तिम पडाव। उसने भविष्य मानना ही छोड दिया है। भविष्य है ही नहीं एक निरन्तर विकासमान वर्तमान ही सब-कुछ है। पानी के फव्वारे पर टिकी हुई गेंद वग जीवन बसा ही क्षणों की धारा पर उछलता हुआ। जब तक धारा है तब तक बिल्कुल सुरक्षित सुस्थापित नहीं तो पानी पर टिके होने स अधिक बचाया क्या चीज होगी! चन्द्र के शब्दों म रेखा अत्यन्त रूपवती है और उसका रूप एक सम्भ्रान्त तेजोमय पवित्र दृष्टि के प्रकाश स दीप्त है भले ही एक बडा रिजर्व उस प्रकाश को घेरे है। यही रेखा रूपवती है पर उसका चरित्र उसका साहस उसकी चुनौती—उसके रूप के आवरण स कहीं उज्ज्वल हैं। भुवन ने रेखा के लिए ठीक कहा है— एक स्वाधीन व्यक्ति जिसका व्यक्तित्व

प्रतिभा के सहज तेज से नही, दुख की आँच से निखरा है। दुख तोडता भी है पर जब नही तोडता या तोड पाता तब व्यक्ति को मुक्त करता है।" यह सिद्धान्त रेखा के जीवन के अधिकाश मे सही है। काश, यह उसके अन्त को भी सार्थक कर सकता! पर वस्तुत वह अन्त रेखा के प्रकृत जीवन का है ही नही, लेखक का उस पर कलम है, रेखा के जीवन और चरित्र मे वह नही पनप पाता। रेखा कहती है—"असल मे मेरे भी दो पहलू है—एक चरित्रवान्, प्रकृत, मुक्त, एक सभ्य और चरित्रहीन।" पर उसका चरित्रहीन होना लेखक की अपनी स्थापना है, रेखा के स्वभाव, कथा के प्रमाण से अप्रमाणित। वह चरित्रहीन होती तो उसके जीवन मे हेमेंद्र के अन्य मित्र होते, चन्द्रमाधव होता, कॉफी हाउस के छेले होते, रियासतो के घिनौने श्रीमान् होते, समाज के पतित सभ्य होते, स्वय रमेश होता। पर नही, उसके जीवन मे इनमे कोई नही है, अव्यभिचारिणी निष्ठा के रूप मे मात्र भुवन केवल उसी के स्पर्श से 'सकल मम देह—मन वीणा सम बाजे'··! वह चरित्रहीन नही, उसका बस एक पहलू है—'चरित्रवान्, प्रकृत, मुक्त, सभ्य।' शेष आरोपित है, प्रकृत नही। कहती है—"मैं क्षण से क्षण तक जीती हूँ न, इसलिए कुछ भी अपनी छाप मुझ पर नही छोड जाता। मैं जैसे हर क्षण अपने को पुन जिला लेती हूँ।" काश, यह हो पाता! प्रतिज्ञा सत्य न हो सकी। वह क्षण-क्षण नही जी पाती। प्रत्यक्ष यदि यह सत्य हो तो उन पत्रो का शब्द-शब्द झूठा है जो उसने कलकत्ते से भुवन को लिखे हैं। और वे पत्र अनेक हे, थोडे नही, और शब्द-बहुल है, व्यथित मथे अन्तरग के वाहन। कहती है—"अब अगले महीने से श्रीमती रमेशचन्द्र कहलाऊँगी मेरे लिए यह समूचा श्रीमतीत्व मिथ्या है,···मैं तुम्हारी हूँ, केवल तुम्हारी, तुम्हारी दी हुई हूँ, और किसी की कभी नही, न कभी हो सकूँगी···।" यह चरित्रहीनता का प्रमाण नही हे, न क्षण से क्षण तक जीने का अवसाद, वरन् शुद्ध आत्यतिक अव्यभिचारी तप और साधना का अपराजित अजेय विनिश्चय।

वह भुवन को भी पहचान लेती है पर उसका औदार्य उसे जैसे क्षमा कर देता है—"तुम सोओ। अपने स्वप्न के लिए तुम्हे नही जगाऊँगी। स्वप्न मे मैंने तुम्हारे प्रिय किसी को देखा था,· वह तुम्हे बहुत प्रिय थी। उसे देखकर मेरे मन मे स्नेह उमड आया—ईर्ष्या होनी चाहिए थी पर नही हुई। भुवन, मैं तुम्हारे जीवन मे आऊँगी और चली जाऊँगी।" भुवन का उसके पूछने पर बार-बार कहना कि वह उसे पहले से भी अधिक चाहता हे, इस तथ्यात्मक वक्तव्य अथवा रागात्मक सत्य से कितना विनिन्दित हो उठता है। आगे की कथा जैसे रेखा की नही किसी और की है। उसका ३६६-६८ पृष्ठ वाला पत्र सँभाल की बात करता हे, न सत्य की न भावना की। और जब पृष्ठ ३६९ पर

यह कहती है— मेरा मन की दौड़ आम नहीं है—पर तुम भुम घूमो महाराज मुक्त विचरण करो प्यार दो और पाओ गौरव मा गजा मरा मुग्ग हाआ तुम्हारा कल्याण हो तब उसका मानव्य प्रचर व्यय का जाता है।

रेखा नदी के द्वीप की अक्षा कीर्ति है। समाज की वह तो है साधारण समाज की। परतु जो शक्तिम है। दूसरा पक्ति उस अगा उपयोग म लाता है तो नहीं याद आता—शायद ब्यक्ति भी ति वह अगामाजिक है असामाय है। पर एक बार जब उसका शक्तिम व्यक्तित्व उपर आता है तब अग उपयोगकार उस सँभाल नहीं पाता उसकी शक्ति रुपी पर वहन ता मर पाता। उसका तेज ऐश्वर्य को अभिभूत कर लेता है। उसकी दृष्टि पर धध छा जाता है और वह उस निमणि का तेज अपन उत्तराय म द्रव सकने के कारण उस धूल पर फेंक देता है। रखा का पिछला जीवन—कलकत्ता का रमेशचन्द्र जीवन—उसी तेजा राशि का कूडे पर फेका जीवन है। एक हत्या रेखा ना 'अजात को नष्ट करके की दूसरी अजय ने रखा को मारकर की। साहित्य म इतन गमय चरित्र की इस अनिष्ट स कभी हत्या नहीं हुई विशेषकर जब वह चरित्र धर्म का पुकार रहा हो। रेखा को भुवन ने नहीं अज्ञय ने मारा नदी के द्वीप के रचक ने रेखा के स्रष्टा ने।

चद्रमाधव। असभ्य चरित्रहीन विषयी वचक आचारहीन कम्युनिस्ट क्रूर। चद्रमाधव ने सनसनी खोजी है। असल म उसने जीवन खोजा है तीव्र बहता हुआ प्लावनकारी जीवन उसे मिली हैं ये छोटी छोटी टुच्ची अनुभूतियाँ चुटकिया और चिकोटिया प्यार नहीं बीवी बच्चे। स्वातंत्र्य नहीं तनखाह। जीवनानन्द नहीं सहूलियत घर, जेबखर्च सिनेमा पान सिगरट मित्रा की हिस। आज के अपने समाज के साधारण मानव के सभी लक्षण। 'प्यार नहीं बीवी बच्चे तो अपने समाज की साधारण स्थिति है अरेन्द्र चद्रमाधव की नहा। वह एक्स्टेसी का जीवन पसद करता है वह क्षणिक भी हो तो उसे ग्राह्य' है— उस पर सौ सेक्योर जीवन निछावर है। रेखा को जीतने के लिए उस पर अहसान लादना चाहता है जब उसकी रुझान भुवन की ओर देखता है तब ईर्ष्यावश गौरा का लिखकर वस्तुत सभी को एक दूसरे के विरुद्ध लिखकर अपनी तुष्टि करना चाहता है। इयागो की मूर्ति बन जाता है। रेखा नहीं मिलती गौरा की ओर झुकता है वह नहीं मिलती तो हेमद्र को रेखा के विरुद्ध उभारता है फिर अपनी गृहस्थी सँभालना चाहता है और जब उसमें भी कामयाब नहीं होता तो रेखा को फिर जीतना चाहता है। पर सवत्र उसकी हार है। इतना नीच है कि नौकरानी तक को छेड सकता है। उधर अपनी पत्नी के प्रति इतना क्रूर है बच्चों के प्रति इतना उदासीन। जनलिस्ट है सनसनी की खोज उसका पेशा है। ढोंगी शब्द बहुल कम्युनिस्ट है। उनके हा

प्रतीक शब्दो का उचित-अनुचित प्रयोग करता है। उसे किसी प्रकार का नैतिक अवरोध (स्क्रुपुल) नही है। झूठा, विनिन्दक, स्वार्थी है। 'जितना थोडा-सा सुख मिलता है उतना ही आतुर और कृतज्ञ करो से ले लेने' को तैयार है। कायर है। जब भुवन के विरोधी पत्र का समुचित उत्तर गौरा दे देती है तब वह घुटने टेक देता है। अपनी ही पत्नी का कन्यादान तक दे देने की बात पत्र मे लिख सकता है।

परतु चद्र सामाजिक है। उसका सबध सबसे है। उसका चरित्र साधारण 'विलेन' पात्र के रूप मे तो कुछ बुरा नही है। पर जिस सिद्धात की हँसी उडाने को उसका उपन्यासकार ने सृजन किया वह उद्देश्य व्यर्थ हो जाता है। प्रगतिशील और कम्युनिम्ट दोनो 'अज्ञेय' के ही साथ उस पर हँस सकते है क्योकि ऐसे व्यक्ति साम्यवाद ओर प्रगतिवाद के 'वलगराइजर' (फ़ूड वनाने वाले) होने के कारण दोनो के शत्रु है। पृ० २४६-४७ और ३३२-३३ पर 'अज्ञेय' ने साम्यवाद और प्रगतिवाद पर पार्टिजन का-सा प्रहार किया है जो स्वय हास्यास्पद हो उठा है। इन विचारो के शत्रुओ का ही साम्यवाद और प्रगतिवाद के दल मे भेजा हुआ चद्र भेदिया है, सहारक, जिसे वह दल स्वीकार नही करता। अच्छा होता यदि, 'अज्ञेय' ने उन पर प्रहार उनके सिद्धातो के माध्यम मे किया होता, यदि साम्यवादियो के त्याग, तप, साधना, विचारसरणि, लोकचेतना, लोकहित पर 'अज्ञेय' ने आघात किया होता। इससे उस गक्ति का केशलुचन तक न होगा, ऐसा मेरा विश्वास है, फिर वह शिथिल अपेक्षाकृत फूहड आक्रोश उस सफल कृति की मर्यादा की ओर उँगली उठाएगा, मुझे डर है, क्योकि मै 'अज्ञेय' के साथ भडैती या फूहडपन का सबध नही कर सकता। इससे मुझे पीडा तो होगी ही, जानता हूँ कि यह उसके स्वभाव मे है भी नही। मैं विशेपत यह कह देना चाहता हूँ कि कम्युनिज्म की अपनी एक पाजिटिव प्रेरणा है, उस फिलिस्टिनिज्म का वह शत्रु है जिसका उद्घाटन पृष्ठ ४ पर हुआ है। चद्र का वह चरित्र जो पृ० २४० पर उद्घाटित है अपने ऊपर ही व्यग्य वन गया है क्योकि कम्युनिस्ट राष्ट्रो की नारी-सबधी चेतना के अचल तक का स्पर्श उनसे इतर राष्ट्रो ने नही किया। यहाँ नारी को चद्र गालियाँ देता है। स्वय प्रगतिशील इतना उदार है कि वह जापानी युद्ध-सबधी लेखक की पृ० ३७०-७१ पर प्रकटित स्थापना को स्वीकार करेगा। पर प्रश्न यह है कि क्या इस सुविधानुकूल स्वानुष्ठित साम्यवादी चद्रमाधव और सीपीवद्ध रेखा-भुवन के बीच कोई दुनिया नही है? चद्र की पत्नी और गौरा के पिता का कोई ससार नही है? मै कहना चाहता हूँ कि उपन्यास पर छाया ससार कोने-कतरे का ससार है, संसार है ही नही, द्वीपमात्र है। उपन्यास मे कही सकेत तक नही मिलता कि इनसे परे भी कोई दुनिया है।

गौरा। सम्य चरित्रवान सिद्धातप्रिय सुन्दर। पवित्र और शुद्ध प्राजापत्य की आकांक्षिणी भावबंधन प्रेम जिसका मार्ग है प्रिय का अखन्ति प्रेम जिसका ध्येय। रूप जो छलना नहीं गिराता नहीं। उठने वाले को ऊपर उठाता है। सयम और सीमा उसम साकार हुए है। वह पाटेश्वरी का सौभाग्य है जसे अतीत वर्तमान भविष्य का। उसका व्यक्तित्व बहुत कोमल है बहुत सम्पन्न भी। भुवन मानता है कि वह आदमी बहुत भाग्यवान होगा जिस गौरा जसी पत्नी मिलेगी। उसम साहस भी है और वह असम्मत विवाह को अस्वीकार कर देती है। वह रेखा और चद्र की पत्नी दोनो से गुणत भिन्न है। एक के उन्मुक्त स्वातत्र्य का उसने सयम स्वीकार है दूसरी की असमर्पित वह अपने लिए नहीं सोच सकती। पर इस दूसरी का तप भी कुछ कम नहीं। वस्तुत उपन्यास का नारी पक्ष उसके पुरुष पक्ष से कहीं सफल है।

यहाँ हम अब थोड़ा उपन्यास के सिद्धान्त पक्ष पर विचार करेंगे। इस पक्ष की ओर ऊपर यत्र-तत्र हम संकेत कर आए हैं। लेखक ने अपने सिद्धान्तों को स्वाभाविक ही अपने पात्रों की जबानी रखा है। उसके प्रकाशन के लिए वस्तुत उसने ध्वनि और संकेत का भी सहारा लिया है वरन् स्पष्टतया क्षण और द्वीप के प्रतीकों के रूप में रखा है। काल का प्रवाह नहीं क्षण और क्षण और क्षण क्षण सनातन है छोटे छोटे असम्मिश्र असम्पृक्त क्षण नहीं के द्वीप जो काल परपरा नहीं मानता वह वास्तव में कार्य कारण परपरा नहीं मानता तभी वह परिणामों के प्रति इतना लापरवा रह सकता है—एक तरह से अनुत्तर

निवेदन यह है कि स्थापना दोनो रूप से गलत है—तथ्य की सत्यता मे भी, व्यावहारिक परिणाम मे भी। और यही सिद्धान्त जो उपन्यास का भाव-कलेवर गढता है उसे अकेला, अर्थविहीन, उद्देश्यहीन कर देता है, अप्रयुक्त स्वर्णखण्ड की तरह। 'काल का प्रवाह नही, क्षण और क्षण और क्षण' क्षण सनातन '' ' सम्पृक्त क्षण।' क्या काल-प्रवाह से भिन्न क्षण का बोध है ? क्या काल-प्रवाह से भिन्न क्षण का अस्तित्व है ? क्या स्वय क्षण सत्यत विश्लेषणत इकाई (यूनिट) है ? क्या उसके भीतर भी, आकार धारण करते ही, दृष्टिबोध के पूर्व से ही अनत सघात-सपदा नही है ? क्या सघात के रूप मे क्षण (अपनी अणोरणीयाम् इकाइयो मे) के भीतर ही महतोमहीयाम् की सगति नही है ? करणो का सघात अपने महतोमहीयाम् रूप मे सृष्टि की सज्ञा (विश्व की) अर्जित करता है और यही विश्व अनत की यूनिट है, महतोमहीयाम् का अणोरणीयाम्। उसी प्रकार वह यूनिट भी, वह कण भी, वह अणु भी, वह क्षण भी, अपने सघात रूप मे, अणोरणीयाम् का महान् अथवा महतोमहीयाम् रूप है, परन्तु अपने भीतर भी वह अपने यूनिट के रूप मे अणोरणीयाम् को निहित रखता है, यानी कि यदि हम सघात (दृष्टि-परोक्ष)—महतोमहीयाम् का दर्शन करे (चाक्षुप अथवा मानस), तो उसमे अणोरणीयाम् की सज्ञा निहित होगी और अविभाज्य रूप मे। सम्पूर्ण की स्थिति अणु से है पर बोधरूप मात्र मे, सपृक्त से अलग नही, विश्लेषणमात्र के लिए अलग। क्षण काल-प्रवाह से अलग नही, उसकी सर्जक शक्तिप्रवाह से भिन्न नही, उसका बोध भी वही है, प्रवाह मे। प्रवाह का सावधित्व क्षण है, क्षणो की अनन सपृक्त सज्ञा प्रवाह है, पर सम्पृक्त सज्ञा—एक और एक और एक का जोड नही—एक का कारण एक, एक का कार्य एक, दूसरा एक पहले एक का कार्य, दूसरा स्वय अगले एक का कारण, पहला एक पिछले एक का कार्य। दोनो कारण और कार्य, दोनो कार्य और कारण, कारणो की अटूट परम्परा एक इसलिए कि दूसरा, दूसरा इसलिए कि एक। मानव अकेला परिणाम, स्वय परिणाम का कारण, जनक, मानव-शृखला से अभिन्न , शृखला स्वय ऐसी अनन्त प्राणवान्, सापेक्ष्य प्राणवान्, अप्राणवान् शृखलाओ के समानान्तर, सकर, ओतप्रोत, उनका अभिसृष्ट और सर्जक, इसमे एकस्थ सम्पदा का परिचायक। और जहाँ क्षण, अणु, कण, मानव काल-प्रवाह, सघात, जलप्रवाह, समाज से भिन्न, वहाँ उसकी मृत्यु, सत्ता का अत, अस्तित्व की अगोचरता। पर यह भिन्नता की स्थिति क्या सम्भव भी है ? ऊपर सकेत कर चुका हूँ, नही। मानव अकेला कैसा ? वह प्रकृतिसिद्ध जलवायु का यथेच्छ सेवन करने मे स्वतन्त्र है पर मानवसिद्ध अभिसृष्टियो के सेवन मे नही, 'इकनामिक नीड्स'—आवश्यकताओ की पूर्ति मे नही क्योकि आविष्कृत वस्तु-सम्पदा समाज की समवेत क्रियाशक्ति का परिणाम है। अकेला

तरह, जो प्रवाह को गति तो नही देता, उसमे प्रवाह वाहित है। हाँ उसके अनिष्ट के रूप मे पास आई हुई चीजों को उदरस्थ अवश्य करता जाता है, प्रवाह से अपना इष्ट वेशर्मी से खींचता जाता है, और स्वार्थ-परिणति, क्षण-सुख, काम-निष्पत्ति को 'फुलफिलमेंट' (पृ० २०७-२१२) मानता है।

समाज-विमुख 'सीपीवद्ध' मानव अपने मे वाहर की सत्ता स्वीकार नही करता और अपने फुलफिलमेंट के लिए एकात ढूंढता है। उपन्यास एकांत-खोज की एक अटूट शृखला उपस्थित करता है। और यह एकात मिथुन का है। एकात मे मिथुन की पारस्परिक अनुचेतना मैथुन की अभिसृष्टि करती है। कारण कि उन्हे अपने से वाहर तृतीय का वोध नही। जिसकी चेतना सामाजिक नही वह एकात मे 'डेविल्स वर्कशाप' का अनुष्ठान करता है, और मिथुन सामाजिक सक्रियता मे विमुख एक-दूसरे की ओर देखता है, उसी मे अपनी इयत्ता मान, लक्ष्य के अभाव मे एक-दूसरे पर प्रहार करता है, वह अन्योन्य रागाचरण करता है जिसे मैथुन कहते है। क्योकि वहाँ तप नही है, केवल विलास है, परिणाम मे रेखा है जो, यद्यपि अद्भुत रसपुजमात्र है, विखरी जाती है। और जहाँ तप है, सामाजिक रूप है (चाहे सीमित अलक्ष्य रूप मे ही क्यो नही), वहाँ व्यवस्थित गौरा का प्रादुर्भाव होता है जो उदीयमान है, सामाजिक व्यवस्था की सामाजिक इकाई है, जो आधार की ईट वन जाती है।

एकात का विलास उपन्यास मे इतना व्यापक हो उठा है कि लगता है यत्र-तत्र दार्शनिक विवेचना भी उसी की पुष्टि, उसी के वचाव के लिए है। अमित खुले विलास का विस्तार पुस्तक मे आद्योपात है। विलास जीवन का कारण, उसकी कोमलता का परिचायक है, पर मात्रा मे। अमर्यादित होकर वह 'विषय' और 'व्यसन' वन जाता है। स्वच्छन्द साहित्य के पोषको के लिए चाहे वह काम का पेटूपन ग्राह्य हो, पर समाजचेता साहित्यिक उसे अशिव ही मानेगा। आदि से अन्त तक उस विलास की उपन्यास मे प्यास है। उसी का वीज, उसी का अकुरण-पोषण, उसी का पाक-पचन। विलासाध भुवन नौकुछिया के ताल मे भी लखनऊ के वाजिदअली के तालाव के जलप्रच्छन्न कक्षो की भाँति 'नौ कक्ष' ढूँढता है (पृ० १६७), अश्लील होते भी उसे देर नही लगती। तुलियन मे रसाप्लावन के वाद रेखा जव चाँदनी मे वैठती है तव उसे भुवन देखता है और तव वह लजा जाती है। पर खेमे मे लौटकर कोक पडित की कथा कहते वह नही लजाती। यह अस्वाभाविक तो है ही, अश्लील भी है। मैं विलास की व्यापक सत्ता मानकर उसकी नगी-से-नगी स्थिति भी स्वीकार कर सकता हूँ, पर कोक पडित की कहानी मे जिस स्थिति की ओर सकेत है उसे मै अश्लील मानूँगा। इसे और स्पष्ट करने के लिए कह देना चाहूँगा कि मैं पुस्तक की वाकी

तरह, जो प्रवाह को गति तो नही देता, उसमे प्रवाह वाहित है। हाँ उसके अनिष्ट के रूप मे पास आई हुई चीजो को उदरस्थ अवश्य करता जाता है, प्रवाह से अपना इष्ट वेगर्मी से खीचता जाता है, और स्वार्थ-परिणति, क्षण-सुख, काम-निष्पत्ति को 'फुलिफल्मेंट' (पृ० २०७-२१२) मानता है।

समाज-विमुख 'सीपीवद्ध' मानव अपने मे वाहर की सत्ता स्वीकार नही करता और अपने फुलिफल्मेंट के लिए एकात ढूँढता है। उपन्यास एकात-खोज की एक अटूट शृखला उपस्थित करता है। और यह एकात मिथुन का है। एकात मे मिथुन की पारस्परिक अनुचेतना मैथुन की अभिसृष्टि करती है। कारण कि उन्हे अपने से वाहर तृतीय का वोध नही। जिसकी चेतना सामाजिक नही वह एकात मे 'डेविल्स वर्कशाप' का अनुष्ठान करता है, और मिथुन सामाजिक सक्रियता से विमुख एक-दूसरे की ओर देखता है, उसी मे अपनी इयत्ता मान, लक्ष्य के अभाव मे एक-दूसरे पर प्रहार करता है, वह अन्योन्य रागाचरण करता है जिसे मैथुन कहते हैं। क्योकि वहाँ तप नही है, केवल विलास है, परिणाम मे रेखा है जो, यद्यपि अद्भुत रसपुजमात्र है, विखरी जाती है। और जहाँ तप है, सामाजिक रूप है (चाहे सीमित अलक्ष्य रूप मे ही क्यो नही), वहाँ व्यवस्थित गौरा का प्रादुर्भाव होता है जो उदीयमान है, सामाजिक व्यवस्था की सामाजिक इकाई है, जो आधार की ईंट वन जाती है।

एकात का विलास उपन्यास मे इतना व्यापक हो उठा है कि लगता है यत्र-तत्र दार्शनिक विवेचना भी उसी की पुष्टि, उसी के वचाव के लिए है। अमित खुले विलास का विस्तार पुस्तक मे आद्योपात है। विलास जीवन का कारण, उसकी कोमलता का परिचायक है, पर मात्रा मे। अमर्यादित होकर वह 'विषय' और 'व्यसन' वन जाता है। स्वच्छन्द साहित्य के पोपको के लिए चाहे वह काम का पेटूपन ग्राह्य हो, पर समाजचेता साहित्यिक उसे अशिव ही मानेगा। आदि से अन्त तक उस विलास की उपन्यास मे प्यास है। उसी का वीज, उसी का अकुरण-पोषण, उसी का पाक-पचन। विलासाध भुवन नौकुछिया के ताल मे भी लखनऊ के वाजिदअली के तालाव के जलप्रच्छन्न कक्षो की भाँति 'नौ कक्ष' ढूँढता है (पृ० १६७), अश्लील होते भी उसे देर नही लगती। तुलियन मे रसाप्लावन के वाद रेखा जव चाँदनी मे वैठती है तव उसे भुवन देखता है और तव वह लजा जाती है। पर खेमे मे लौटकर कोक पडित की कथा कहते वह नही लजाती। यह अस्वाभाविक तो है ही, अश्लील भी है। मै विलास की व्यापक सत्ता मानकर उसकी नगी-से-नगी स्थिति भी स्वीकार कर सकता हूँ, पर कोक पडित की कहानी मे जिस स्थिति की ओर सकेत है उसे मैं अश्लील मानूँगा। इसे और स्पष्ट करने के लिए कह देना चाहूँगा कि मैं पुस्तक की वाकी

सारी विलाससपन्ता को अश्लील नहा मानता यद्यपि अनेय की अश्लीलता की परिभाषा मुन स्वीकार नहा—(जा) जावन को उभारती है उग अश्लीलता नही कहना चाहिए (पृ० २८६) पर जीवन भर जा जीवन याना विनाग, जो उभारता रहे उस क्या कहेंगे ? और पुस्तक भर म जीवन का दूसरा रूप तो प्रस्तुत है नही। विलास की यह गाला वस्तुत इतनी बन जाता है कि भुवन और रेखा पर धुध छा जाता है। वे डूबत सूरज का पीछा करत हैं, रूप हा दिन का। ऋपि के पानी म पुकार उठने की इच्छा होती है देखना, कहा पाश्चात्यता (नाश की सज्ञा मरीचिका अधकार) म न गिर जाना ! मा मा प्रापत्प्रतीचिका ! वरन आग रात है। 'धुध की दीवार कही कोई दिशा नहा क्षितिज नही लाना धुध म खा गए केवल ये दोनो (निश्चय केवल वे दोनो) तबू का चंदोवा और धुध धुध व्यापक धुध (पृ० २०५)।

अकेले अकेले मिथुन बढते जाते हैं द्वीप से खुले ससार म अकेल कॉफी हाउस म अकेले कुदसियाबाग म अकेले जमुना की कछार म अकेले नौकुछिया ताल म अकेल तुलियन म अकेले सवत्र अकेले पानी के फव्वारे पर अपनी गैर कि का निर्माण की सभावना असभव करते। और यह स्थिति कितनी ही बार तो इतना वेजा हो उठती है कि भरे स्टेशन पर रेखा चाहे जितना धीरे धीरे, गान लग जाती है।

द्वीप द्वीप मिथुन मिथुन उपन्यास बनता है। विराट प्रकृति भी तुलियन और नौकुछिया म भी, उनके भरे मन म प्रवेश नही कर पाती उद्दीपक साधन मात्र बनकर रह जाता है। खुली प्रकृति के प्रशस्त प्रागण मे भी जैसे उच्चमध्य वर्ग का यह द्वीप यह सीपीवद्ध जीवन जा पहुचता है। जहाँ-तहा जब तब इक्के दुक्के जीव सीपी की राह म टकरा जाते है पर वे उसके नही है वह उनकी नही है शेखर एक जीवनी इससे कितना भिन्न है ? दूर की भीड काग्रेस का अधिवेशन जेल का कमरा शखर, शारदा शशि विद्याभूषण सदाशिव दादा सभी ससार के जीवित प्राणी हैं प्रवाह के कण उसके भवर नही। नदी के द्वीप म भुवन और रेखा ससार से दूर हट समाज की सीमा कारिणी मर्यादा-तजनी की पहुच स दूर उसका सब-कुछ त्याग अपना नगा विलास उसे दिखाते है। और उसका अन्त है नराश्य। रेखा क्या कहती है ? —विद्रोह मुझम नही है सपूण नराश्य ही है, इतना सपूण कि जब उसकी दुहाई कभी नहा दूगा (पृ० ३५६)। नराश्य उस समाज विमुख एकाध धध का सहज निगमन है।

कलकत्ते की चिट्ठियों के बाद नदी के द्वीप समाप्त हो जाना चाहिए था। बाद का क्या उपसहारमात्र है नीरस। उपन्यासकार को यह जान लेना चाहिए कि कृति म स्थिर कुछ नही कथा म यदि कोई प्रसग रस को बनाता

नही तो उसे वह घटाता जरूर है। वह अश रेखा के चरित्र का विरोधी भी है। वस्तुत इसी समय उसका सशक्त मासल चित्रण माँगता है। सुदर होता यदि उपन्यासकार ने उसके नए सघर्ष का चित्र खीचा होता, गौरा के आडबरहीन कल्याणकर गार्हस्थ्य का भी, चद्रमाधव की पत्नी के धीर तपशील उपेक्षित जीवन का भी।

कुछ लोगो को 'अज्ञेय' की शैली मे अवतरणो का बाहुल्य शायद खटके, मुझे नही खटकता। अवतरण बोलने वालो की अनुभूति के अग बन गए है, उनके मानस का उद्घाटन करते है। काश, लारेंस का विद्रोही भी कही होता—'लेडी चेस्टरलीज लवर' की सामाजिक भूमि का।

'नदी के द्वीप' की कला, जैसा पहले कह चुका हूँ, सफल है, उसका सिद्धात समाज-विरोधी, गलत। उपन्यास के रूप मे उसका-सा अपने साहित्य मे कुछ नही है। मैं उसे हिंदी के छह सर्वश्रेष्ठ उपन्यासो मे गिनता हूँ, जिनमे दो 'अज्ञेय' के ही है। व्यजना और बौद्धिक बारीकी उसमे गहरी है। भाषा की बारीकी, उसका सहज विन्यास साहित्य की सुईकारी है। पर अफसोस कि उपन्यास पढकर 'सत्यनारायण' की कथा याद आ जाती है—सुदर पके फल मे कीडे!

६

अज्ञेय के उपन्यास

संसार में ऐसे उपन्यासकारों की संख्या कम नहीं है जिन्होंने केवल एक उपन्यास लिखकर व्यापक यश कमाया है। हिन्दी के उपन्यासकार 'अज्ञेय' इन्हीं कतिपय भाग्यवानों में हैं। शेखर—एक जीवनी उनकी ऐसी प्रौढ़ कृति है जिसने उन्हें हिन्दी उपन्यासकारों की अगली पंक्ति में बैठा दिया है। और उस पंक्ति में भी प्रकार वैचित्र्य में वे सर्वथा अकेले हैं। उपन्यास उन्होंने केवल दो लिखे हैं—शेखर—एक जीवनी और 'नदी के द्वीप'। यदि वे केवल शेखर—एक जीवनी ही लिखकर कलम धर देते तो उनकी ख्याति कुछ कम न होती।

शेखर—एक जीवनी प्रायः सर्वांगसुन्दर कृति है। अधिकतर सृजनशील साहित्यकारों की कृतियाँ उनके निजी विकास की द्योतक होती हैं। उनके उत्तरोत्तर क्रम से उनकी क्रमिक मंजिलों का पता चलता है। परन्तु अज्ञेय ने इस दिशा में अपने अध्येताओं को सर्वथा वंचित कर दिया है क्योंकि 'नदी के द्वीप' के सालों पहले उनकी केवल एक कृति आलोचकों के सामने रही है जिससे उपन्यासों के अनुक्रमण द्वारा उनका अध्ययन असम्भव रहा है। शेखर—एक जीवनी वस्तुतः ग्रीक की देवी मिनर्वा की भाँति अपने विकास के स्तर प्रस्तुत नहीं करता, सर्वथा प्रौढ़ असाधारण सुगठित रूप में हमारे सामने आता है।

उस उपन्यास में घटना और चिंतन, स्मृति और कल्पना, वैयक्तिकता और सामाजिक संवेदना, बौद्धिकता और रोमैंटिक भावावेश सभी एक साथ विशाल चित्रपट पर अवतरित होते हैं। घटनाएं वेग से देश और काल के विस्तृत फलक पर एक के बाद एक सरकती चली जाती हैं पर विस्तृत हो जाने के लिए नहीं, हमारे हृदय की गहराइयों में पैठती हुई। और उनका अंकन, उनका अविरल विघटन कुछ इस अनायास सचेत चेष्टा से हुआ है कि छोटी बड़ी सभी घटनाएँ अपनी अपनी स्थिति में, अपने अपने स्थल पर अत्यन्त मार्मिक हो उठती हैं। पेरम की बाढ़, ठटन का आंदोलन, रोगिणी का अनुराग, अप्राकृतिक भावुक

आकर्षण, फाँसी की कोठरी सभी एक 'पिच' पर है, समान मात्रा मे चोट करते है। और उनका अकन जिस कुशलता और साहस से हुआ है, वह साहित्य मे अपना सानी नही रखता।

जब मैं साहस की बात कहता हूँ तब मेरी मति मे समाज की वे सारी रुढियाँ, वे सारी काल और तर्क-विरोधी कुरीतियाँ हैं जिनका वर्णन करते समय साहित्यकार अधिकतर सहम जाता है, मोह या भयवश उन्हे सराहने लगता है, गैलरी मे बैठे दर्शको की प्रतिक्रियाओ के प्रति आत्मसमर्पण कर बैठता है। 'अज्ञेय' इस सम्बन्ध मे सर्वथा निर्बंध हैं, नितात निर्भीक।

उपन्यास मे बराबर ऐसे प्रसग आते हैं जिन्हे निरावरण प्रस्तुत करने का साहस ससारचेता कलाकार को न होता, परन्तु वही 'अज्ञेय' जैसे कहते है—इसे तुम्हारे मुँह पर फेकता हूँ, पहचानो और हिम्मत हो तो कह दो यह तुम्हारा नही है। वही 'अज्ञेय' की अन्य उपन्यासकारो से भिन्नता है। वही उनकी असाधारण वैयक्तिकता है जो क्रांति का नेतृत्व करती है, जो अनन्य होकर भी, और उस अनन्यता के प्रति सचेत न होने से ही, व्यापक समाज को ढक लेती है। अनुभूति—वेदना, मुखरित अनुभूति—अपनी वेदना से ही 'अज्ञेय' के ही शब्दो मे, शक्ति पाती है। शक्ति से दृष्टि, फिर उसी दृष्टि के खुलने से घटनाओ की यथार्थता रूप धारण करती है जो उन्नताश मानव की कल्याणबुद्धि का आधार है, प्रगति की नीव।

सही, उपन्यास का नायक शेखर बुद्धिवादी है, पर अनायास, प्रकृतित. सचेत नही। अपनी वैयक्तिकता का साधन वह किसी को नही बनाता, बनाने के उपक्रम नही करता। अपने सामाजिक धर्म मे उसकी निष्ठा है। उसके प्रति वह विनयशील है, उसके नियत्रणो से बँधा, जिससे वह फाँसी की रस्सी के निकट पहुँचने से भी इन्कार नही करता।

बुद्धिवादी होकर भी, बुद्धिवादी इसलिए कि जिस मानवीय दाय का वह उत्तराधिकारी है बुद्धि उसकी सचित पूँजी है, उसकी शक्ति का रहस्य, इससे बुद्धिवादी होकर भी वह समाज के शहीदो की श्रेणी मे खडा है, जेल की काल-कोठरियो मे बन्द दडित या दड्य जवानो से उसकी मति भिन्न नही।

यदि वह उनसे अधिक सोच लेता है तो वह केवल उसकी सतर्कता का निजत्व है, समाजभिन्न इकाई का विद्रोह नही। शेखर की कर्मठता अपने घटना-बाहुल्य मे आयोजित व्यक्तित्व की महत्त्वाकाक्षा की चोटी नही प्रस्तुत करती, केवल समाज की वह उर्वर इकाई स्तभित करती है जिसकी समाज के साथ इतनी गहरी समानधर्मिता है कि वह अपना निजत्व ही नही देख पाता।

घटनाओ के वर्णन की अज्ञेय मे असाधारण क्षमता है। इस उपन्यास की

मरमे बडी शक्ति उपयासकार की अपनी सावजनिकता है। नायक जग उसकी कमठता उसी की अन्य जागरूकता की छाया है। उपयासकार और उसके नायक शखर की जीवनविधि कायगरणि तक हो गई है।

लखनऊ का सग्रहालय कश्मीर का प्रवास मद्रास म अध्ययन लाहौर की कारम विद्याभषण भारतीय क्रातिकारी आदोलन के प्राण दादा चद्रशखर आजाद रावी के तट पर बम विस्फोट स छिन भिन किसी का शरीर—सभवत भगवतीचरण का—क्या जीवन के यथाथ अगाग नही ? क्या उनकी स्थिति स्वय अनय क घटनाबाहुल्यगत जीवन म अभिन नही ? फिर क्या हम यह नही कह सकते कि साहित्यकार की कृति पर उसका अपना ऐतिह्य अपना कत त्व छाया हुआ है ?

परतु क्या इससे हम यह निष्कष भी निकाल सकते हैं कि उपयास जब तक अपनी भावना का अपने ही जीवन के विघटित ऐतिह्य का प्रतीक हो उठता है यानी क्या एक ही कृतिकार के जीवन म एसा हो सकता है कि जब वह कमठ और समाजवता प्राणी हो तब उसकी कृति म समाज का प्रवहमान गतिशील जीवन चित्रित हो उठ और जब वह उस ओर स उदासीन अतर्निविष्ट आत्मकेद्रीय हो तो उसकी कृति भी उसी प्रवत्ति क अनुकूल समाजविमुख और आत्मलीन हो जाय ?

बात यही है और इस दिशा म अनय स्वय अपने जीवन और कृतिया म अदभुत सामजस्य उपस्थित करते है। उनके शेखर—एक जीवनी और नदी के द्वीप इस सत्य को जिस मात्रा मे घोषित करते हैं मेरे जानते अय किसी साहित्यकार की परस्पर विरोधी कृतिया नही करती। अज्ञेय के अद्यावधि जीवन को यदि हम पूव और उत्तर दो काल भागा म बाँट सकें तो निश्चय उनका पूवकाल समाजविह्वल है जिसकी तालिका शखर—एक जीवनी म खुल पडती है। उनका उत्तरकाल सवथा वयक्तिक समाजविमुख सा है। सभव है वह कोई साधना कर रहे हो पर उसकी याप्ति हम तक नही पहुँच पाती।

गाधी की साधना और अरविंद की साधना म अतर ह। अरविंद की साधना व्यक्ति के भीतर दडवत ऊँची हो सकती ह। परतु उसका साधारणी करण सभव नही गाधी की साधना चाक्षुप हो सकने के कारण हमे सब ओर स छू लेती ह। शखर—एक जीवनी का स्रष्टा जसे अपने भौतिक जीवन म भी गाधी की साधना का एक वण उपस्थित करता ह। नदी के द्वीप' का उपयासकार जस फिर अनेय अपने जीवन के उत्तरकालीन आत्मकेंद्रित यथाथ का उदघाटन करता ह। पहला उसके समाज अभिमत ससार की इकाइयो का अद्भुत ऊहापोह विस्तार ह प्रवहमान बूदो का तरल सघात दूसरा उसके कूमवत आचरण स प्रजनित ब्रह्माण्ड को बूद म देखने का प्रयास ह।

सही 'शेखर—एक जीवनी' मे भी उद्देश्य के दर्शन नही होते परतु तत्कालीन समाज का बहुमुखी यथातथ्य निरूपण उसमे निश्चय हुआ है। कुछ अजब नही कि उसके अगले खड मे पहले दोनो खडो की यह त्रुटि भी सँभल जाय, यद्यपि दुर्भाग्यवश उस प्रत्याशित तीसरे खड और पहले दोनो के बीच जो यह 'नदी के द्वीप' का व्यवधान आ गया है, उससे उसका प्रणयन भी विपाक्त न हो जाय, उसका तर्क जो भी हो, हम 'शेखर—एक जीवनी' के अतिम खड की प्रतीक्षा बडी उत्कठा से कर रहे है।

'अज्ञेय' का दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' आज प्राय दो वर्ष हुए प्रकाशित हुआ। यशस्वी कृतिकार के उस उपन्यास ने तत्काल अपने प्रेमियो को आकृष्ट किया। इस बीच हिंदी साहित्यकारो मे जो सिद्धातमूलक व्यवधान आगया था उससे एक विचार के आलोचको और साहित्यजिज्ञासुओ मे अज्ञेय की नई कृति के भावतत्व से उत्साहित होने की सभावना कम थी, परतु उन्होने इस दूसरे उपन्यास की भी उपेक्षा किसी मात्रा मे न की।

फिर भी जैसा अभी कह चुका हूँ, 'अज्ञेय' अब ब्रह्माण्ड को बूँद मे देखने-खोजने लगे थे। समाज के प्रशस्त राजमार्ग को छोड वह एकातिक निर्जन दलदल मे जा रमे थे। ऐसा नही कि उनमे अपनी इस नई प्रवृत्ति के प्रति रति न हो। रति है और गहरी, इतनी कि वह नगर के जीवन से दूर, समाज के हगामे से दूर, फ्राइडेमैन की भाँति जमुना के कछार मे, कुदसिया बाग मे, सात ताल के तट पर, कश्मीर की नीरवता मे उसकी एकाग्र साधना करते है।

अब उपन्यासकार की एकात रति आत्मतुष्टि मे है, आत्मतुष्टि जो विज्ञान और खोज की आड लेकर कोका का दामन पकडती है जिसके स्वार्थ पर नग्न यौनोपासन का वज्रयानी तत्वनिष्ठा रेखा का असामान्य सुघड नारीत्व शिकार हो जाता है। अब 'शेखर' का सान्निध्य विद्याभूषण या दादा से नही हो सकता, सामाजिक कल्याण की वेदी पर बलि हो जाने की निष्ठा वाले युवको के प्रति भयान्वित विचारको को अब 'शेखर' की उदात्त वृत्ति के कुछ कर गुजरने का डर नही, अब फाँसी की डोरी का डर नही। न शशि के प्रति कर्तव्यचेतना से शक्तिलब्ध नायक मे ससार को चुनौती देने की ही क्षमता अवशिष्ट है, न अब वह सुकुमार सहपाठी के मृदुसौदर्य को चूम अपनी भूख की ही सच्ची सहज अभिव्यक्ति कर सकता है।

अब वह केवल व्यक्तिचित्ती है, कोमलाग कर्षण का भावुक, जिसे कर्षण के बाद कोमलाग की आवश्यकता उतनी ही है जितनी आम चूसने वाले को गुठली की। यह क्यो ? क्योकि शेखर अब शेखर नही भुवन है। व्यक्तिमात्र ही उसका बोध है, विश्वव्यजक भुवन अब व्यक्तिव्यजक 'भुवन' मे समा गया

अज्ञेय शैली के अनुपम स्रष्टा है। कम-से-कम शब्दो मे अधिक-से-अधिक व्यक्त करने की उनमे असाधारण शक्ति है। कृति के 'कटेट' की ही भाँति उसका 'फार्म' भी उनके लिये समान महत्त्व रखता है। उनके पात्रो मे शायद ही कोई निर्जीव हो, मभी मस्कृत और सबल है। परतु खेद है कि उनका अभियान दडी की ओर नही, पाडिचेरी की ओर भी नही, वज्रयानी तात्रिको के 'श्रीवर्धन' की ओर है।

७

गर्म राख

'गर्म राख' उपेन्द्रनाथ अश्क का [illegible] दूसरा [illegible] उपन्यास है। उनका पहला उपन्यास 'गिरती दीवारें' [illegible] में [illegible] प्रकाशित हुआ था। 'गर्म राख' [illegible] विस्तार में उससे [illegible] और [illegible] व्यापक कृति है।

अश्क की प्रतिभा विशेषतः नाटकीय है [illegible] नाटक [illegible] में [illegible] स्थान काफी ऊँचा है। [illegible] उपन्यासों को [illegible] माना है। रंगमंच के अनुकूल उनकी [illegible] सुन्दर भाषा लिखने वाला [illegible] दूसरा [illegible] है। प्रसाद गुण का इतना वैभव कम लोगों में है। भाषा निर्मल जल की भाँति अविरल बहती है [illegible] जिसका जादू [illegible] रंगमंच पर [illegible] लगता है। उसी भाषा का चमत्कार अश्क के उपन्यासों में भी है, गर्म राख में विशेष।

पुस्तक के आरम्भ में उपन्यासकार ने अपने पाठकों के कुछ वर्ग बनाये हैं। उन्हें उसने कुछ सलाह दी है जो इस प्रकार है

आम पाठक से प्रार्थना है कि वह नाम के चक्कर में न पड़े। उपन्यास को एक बार पढ़ जाए, निश्चय ही वह उसमें पर्याप्त मनोरंजन पाएगा।

गम्भीर पाठक से वांछा है कि वह इसे कम-से-कम दो बार [illegible] छह महीने के अंतर से पढ़े। उसे अपना श्रम बेकार न मालूम होगा।

काट कर ही अपनी सत्ता सिद्ध करने वाले छिद्रान्वेषी आलोचक के हितार्थ पर्याप्त सामग्री इस उपन्यास में है, वह अपने दाँत शौक से तेज करे।

स्नेही और सृजनशील आलोचक के परामर्श [illegible] के सिर आँखों पर। उनकी बाट वह उत्सुकता से देखेगा।

पता नहीं प्रस्तुत उपन्यासकार मुझे किस वर्ग में रखेगा, क्योंकि पाठकों में गम्भीर हूँ और 'गर्म राख' को प्रायः साल छह महीने के अंतर से आद्योपांत दो बार पढ़ चुका हूँ, इस दूसरी बार अभी हाल, विशेषतः उसपर लिखने के

लिए। 'अश्क' ने पाठको की ही भाँति आलोचको के भी दो वर्ग किये है, एक वे, जो छिद्रान्वेषी है, दूसरे वे, जो सहृदय और सृजनशील है। प्रकट है कि जिस प्रकार आलोचक साहित्यकार का मूल्याकन करता है, साहित्यकार पर भी उसके 'आलोचन' की प्रतिक्रिया होती है। आलोचक के एक वर्ग के प्रति 'अश्क' को कुछ झुंझलाहट है। सलाह मे फलत कुछ आक्रोश, कुछ चुनौती भी है। पर मेरा विचार है कि मूल्याकन का एक अग अथवा 'प्रासेस' छिद्र या रन्ध्र को ढूँढ निकालना भी है। आखिर वह आलोचन-आलोकन क्या, जिसके आलोक-प्रक्षेपण द्वारा साहित्य-प्रासाद के छिद्र अथवा रन्ध्र उल्वण न हो उठे, प्रकाश मे न आ जाएँ ? हाँ, जो सृजन सर्वथा छिद्रान्वेषण की प्रक्रिया से ही प्रेरित है, उसके प्रति उपन्यासकार का यह आक्रोश अथवा सुझाव अन्यथा नही। वैसे आलोचक साधारणत अपना काम जानता है, वैसे ही, जैसे उपन्यासकार थोडा-बहुत अपना।

'गर्म राख' सामाजिक प्रेरणा मे लिखी कृति है, यद्यपि समाज की विषमताएँ उसमे खुलकर नही आती। हाँ, समाज का निम्न मध्यवर्ग, अपनी सकीर्ण-घिनौनी प्रवृत्तियो के साथ, निश्चय, स्पष्ट खुल पडा है। उस दृष्टि से इस उपन्यास का रचयिता कैमारा-मैन है, सफल फोटोग्राफर, जो समाज के कोनो-कतरो को साफ झलका देता है। परन्तु, प्रकट है कि कैमरा-मैन स्थिति को यथातथ्य फिलम पर झलका देने के सिवा प्रेरणा अथवा सुझाव के रूप मे कुछ नही दे पाता। **'गर्म राख'** के रचयिता का यह सामाजिक 'आलोचन' घृणित और अशिव का 'छिद्रान्वेषण' मात्र है या 'सृजनशील' निर्माण-प्रेरक भी, उसकी बात मै फिर करूँगा, यहाँ अभी इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि उपन्यास के स्थल, उसके पात्र आदि जाने-पहचाने-से है। उनका चित्रण इतना सजीव इतना निकट का है कि लगता है, हम उन्हे जानते हैं और अनायास उनके अनेक मासल 'मोटिफ', जीवन मे पहचाने-से, आँखो के सामने उठ आते है, इतने कि यदि उन मासल पर्यायो की कोई भगिमा उपन्यास के चरित्र-विशेष मे नही घटती, तो उपन्यासकार पर जैसे जी खीझ उठता है। उपन्यास-दर्पण मे समाज को प्रतिबिम्बित करने मे 'अश्क' आशिक रूप मे बालजक और जोला की भाँति सफल हुए है।

उपन्यास भी साहित्य के अन्य कलेवरो की ही भाँति जीवन का दर्पण है। कहानी का विस्तार उसमे प्रवहमान् जीवन को प्रकट करता है। कहानी के उस विस्तार मे कला की दृष्टि से रस का सचरण और परिपाक होता है। घटनाचक्र की एकता, या अनेकमुखी जीवन-धारा का एकस्थ विलयन ही उसका पाक है। घटनाचक्र की एकता वस्तु-गठन के रूप मे, उपन्यास के रस को कलत्व प्रदान करती है। इससे यह स्पष्ट है कि साहित्य-कला के रूप मे, अन्य कलाओ की ही

भाँति उपन्यास भी अपने रस के प्रभाव म उपास्य होता ह । परन्तु रस मसरण शील है प्रवहमान इसस प्रवाह भिन्नता उसका मारक ग्ह है। रस का व्यभि चार उसकी प्रवाह शक्ति को नष्ट करता है याना कि घटना शृङ्खला की कमजोर कडी कला के क्षेत्र म केवल शृङ्खला को कमजोर ही नहा करती उस निरथक कर देती है । यह याद रखने की बात है कि कला या साहित्य क गठन म जा घटना या भाव उसके रस का वधन नहा करता वह निश्चय निश्चप्ट नहा रह पाता वरन रस को घटाता है। उपन्यास या कहानी की कथा वस्तु म इसका ध्यान उपन्यासकार या कहानीकार का सदा रखना चाहिए । कहानी म तो उसका सपुजा और भी गठा और भी कन्द्रित होना चाहिए यद्यपि उपन्यास की व्यापकता विपुल होन क कारण कथा अनक धाराआ म बह सकती है । पर उसकी कथा वस्तु को भी धार-बहुलता के बावजूद प्रवाह की रीढ से स्वतन्त्र नही होना है वरना मर म भटकती नदी की भाति उपन्यास की मोद्दश्यता नष्ट हो जाएगी उसकी प्रखरता अनेक दिशाओ म बटकर जिखर जाने के कारण शक्तिहीन हो जाएगी। इस दृष्टि से गम राख' पर नजर डालने स सवथा सन्ताप नही होता ।

'गम राख' का कहानी इस प्रकार है। सत्या अपनी ही चलायी कन्या पाठशाला की अध्यापिका है गम्भीर समझदार और साधारण सुदर। उसक प्रति प्रकट अप्रकट रूप से अनक पुरुष अनुरक्त है। एक पत्रिका म छप उसके चित्र स आकृष्ट होकर कवि चातक संस्कृति समाज की स्थापना करते है जिसका एक मात्र उद्देश्य पहले सत्या फिर अन्य नारियों को अपनी ओर खीचना है । उसकी बठक म सत्या तरुण कवि जगमोहन से मिलती है । जगमोहन उसकी ओर आकृष्ट होता है । आकषण के जादू का वस्तुत दोनो के सम्बन्ध मे अभाव ही है यद्यपि उसका भावात्मक प्रभाव जगमोहन पर अधिक प्रकट है । सत्या द्रष्टा स्रष्टा की भाँति उस बढते हुए असर को जस दखती है, जागरूक होकर उसका विधान करती है । पर जगमोहन का राग मोह म परि णत नही हो पाता और शीघ्र अपन ऊपर डाला हुआ पाश वह ताड देता है । दोनो बार बार मिलते हैं एक स अधिक बार राग भावबध की परिधि ताड स्थूल कायिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है पर जगमोहन चाह परिस्थितियो का शिकार क्या न हो सत्या उन परिस्थितियों की सचेत सघटयित्री है। उनको न केवल वह जानती है बल्कि वही उनका प्रादुर्भाव कराती है । उसकी सतुलित आचार वत्ति जगमोहन की सब प्रकार सहायता करती है उसके भाई भाभी की भी जिसम राग नहा तो कम स कम कृतज्ञता उसम उस बाँध रख । और उसी मन्त्रणा के क्रम म मजदूर कर दन वाली परिस्थितियो म बार बार आत्मसमर्पण कर उस रागबद्ध रखती है । पर वस्तुत जगमोहन कभी समय

समय के कायिक सम्बन्ध के अतिरिक्त, सत्या से भावबन्धन नही रख पाता, और एक दिन अपनी प्रवृत्तियो का विश्लेपण कर, स्पप्ट कह देता है कि उसका सत्या से प्रेम नही है। उसके आदर और प्रेमाभास को विच्छिन्न करने मे दुरो के प्रति उसकी सहज अनुरक्ति भी सहायक होती है। वह एक दिन स्पष्टत अपनी भावस्थिति पत्र मे लिख कर सत्या को दे देता है। उधर सत्या के काग्रेसमना पिता के कानो मे कन्या की असयत अनुरक्ति की खबर पहुँचती रहती हे, जिससे उसका विवाह कर देने वे लाहौर आ पहुँचते है। एक धनी मेजर का विवाह-विज्ञापन समाचार-पत्र मे पढकर, वे सत्या से उस दिशा मे स्वीकृति माँगते है। जगमोहन की उदासीनता से सत्या पहले से ही कुछ उद्विग्न हे, फिर तभी उसका वह असस्कृत पत्र भी पहुँच जाता है, जिसमे वह सत्या के प्रति अपने प्रेम के अभाव की घोपणा तो करता ही है, उससे किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना भी स्वीकार करता है, उसका अपने यहाँ आना वर्जित करता हे। सत्या खीज कर अफ्रीकावासी भोडे, काले, कुरूप, अर्धान्ध मेजर से विवाह कर, अफ्रीका चली जाती है। जगमोहन से अन्त मे जाते समय स्टेशन पर छोडने का अनुरोध करती है। जगमोहन वहाँ जाना अस्वीकार तो कर देता है, पर जाता है, यद्यपि मिलता नही, प्लैटफार्म पर इधर-उधर छुपा फिरता है। उदासीन सत्या इधर-उधर उसे ढूँढती है, फिर दिल मे चोट लिये चुपचाप अफ्रीका चली जाती है।

'गर्म राख' की यह मूल कथा-धारा है, पर उसके अतिरिक्त उपन्यास मे अनेक स्वतन्त्र और परवर्ती धाराएँ है, जैसे दुरो-हरीग का कथा-प्रसग, 'येलो वस'-यूनियन-आन्दोलन, धर्मदेव विद्यालकार और प्रो० ज्योतिस्वरूप की उप-कथा, वसत-सरला का प्रसग, सरदार गुलबहारसिह, उनके पिता डा० टेकचन्द-खान का पहेली-समस्या-प्रयास आदि। इन प्रसगो मे दुरो-हरीश का कथा-प्रसग, निश्चय, मूल कथा-धारा, यानी सत्या-जगमोहन की कथा-धारा मे नाम-मात्र को प्रभावित हे। प्रगतिशील तत्त्व—साहित्य, श्रमान्दोलन आदि—उसी से अधिकतर सम्बन्धित है। दुरो और हरीश के चरित्र (विशेपकर दुरो का चरित्र), इतने सशक्त और महत्त्व के है कि कुछ अजब नही कि अनेक लोगो को वे ही दोनो (या कम-से-कम दुरो) उपन्यास के प्रधान चरित्र या नायक-नायिका लगे। कम-से-कम से उनकी कथा मूल कथा-धारा की समानान्तर धारा है, वस्तुत अपनी भूमि पर है, मूल-धारा की सहायक के रूप मे अनभिसृप्ट। धर्म और स्वरूप की कथाएँ, निश्चय, परवर्ती है, इतनी परवर्ती कि उनकी आवश्यकता नही रह जाती। मूल कथा की सहायता उनसे भी नही हो पाती। उनके चरित्र को स्पप्ट करने के लिए उनकी पुरानी इतिवृत्ति आवश्यक हो सकती है, पर उसकी ओर सकेत-मात्र पर्याप्त था। इसी प्रकार शायद 'येलो वस' के प्रोप्राइटर

चोपड़ा के हिस्सेदार गोपालदास और रत्नामणि के विवाह का विवरण यद्यपि अत्यन्त हृदयग्राही है, मूल कथा को शिथिल कर देता है। इसी प्रकार यद्यपि यमन का उपयोग एक आध स्थल पर हुआ है, यमन और गंगा का प्रसंग उपन्यास का अंग नहीं जान पड़ता, मानो कि अगर यह प्रसंग कथा से हटा दिया जाए तो कथा में कहीं रस भंग नहीं होगा। सरला, टेकचन्द और श्याम की पत्नी की समस्या भी इसी तरह उपन्यास की कथा-वस्तु की दृष्टि से अनावश्यक है। ये सारे प्रसंग यद्यपि स्वयं अत्यन्त मनोरंजक और समाज की वस्तु स्थिति उजागर कर देते हैं, लेकिन किसी प्रकार किसी मात्रा में मूल कथा को सहायता नहीं मिलती। यदि भानक स्वयं तो मूल कथा का प्रवाह उत्साहक है पर पत्रकार वर्मा और मिसेज वर्मा का प्रसंग भानक के चरित्र को उत्तेजित और स्पष्ट करते हुए भी उपन्यास के लिए प्रकारान्तर ही है।

इस दृष्टि से देखने पर प्रकट है कि 'राम राज' या कहानी का एकनिष्ठा या समान केन्द्रीयता इन प्रकारान्तर प्रसंगों से नष्ट हो गया है। लगता है जैसे समाज के अनेक अंग विविध कथानक एकत्र कर लिए गए हैं जिनमें स्वाभाविक अंगागीय (आर्गेनिक) सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ उपन्यासकारिता की समस्या पर एक प्रश्न हो सकता है—क्या वजह है कि कथा-वस्तु की एकता या एकनिष्ठा बरकरार रखी जाए? यह प्रश्न यद्यपि आलोचकों के सामने अब तक नहीं आया है पर है यह अहम प्रश्न क्योंकि आज तक के उपन्यास शास्त्र का दर्शन कथा-वस्तु की एकाग्रता को एक मात्र या प्रधान साध्य मानता आया है। अब प्रश्न है जो उपन्यासकार—प्रस्तुत स्थिति में अश्क—पूछ सकता है कि जीवन जब इतना बहुमुखी हो गया है कि कथा वट के एक तने में नहीं समा पाता तो क्या नहीं वट और पकटी पर अनायास फूट पड़ने वाले भिन्न जातीय वृक्षांकुरों की भाँति उपन्यास की प्रधान कथा के साथ अनेक उपकथाएँ ऐसी गूँथ दी जाएँ जिनका मूल से अपेक्षाकृत सामंजस्य बना रहे यद्यपि वे उसके *विकास के अर्थ न लिखी गयी हों* बल्कि समाज के विविध अंगों और कोना-कतरों को आलोकित करने के लिए प्रस्तुत हुई हों?

वस्तुतः अश्क का यह उपन्यास अद्यावधि अंगीकृत शास्त्रीय आलोचना को चुनौती है। और यहाँ मैं आलोचकों का ध्यान प्रस्तुत आलोचना के माध्यम से इस नवीन दिशा की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ। हाँ चुनौती यह अवश्य तभी हो सकती है, जब यह प्रयास सचेत हुआ हो। यदि ऐसा नहीं तो निश्चय यह उपन्यासकारिता की एक फ्लिंग (कमजोरी) ही होगी। प्रयास यह

सचेत है या नही, यह बगैर व्यक्ति-उपन्यासकार से पूछे, हम उसकी सृजित कथा-वस्तु से भी प्रश्नत जान सकते है, यानी कि अगर उपन्यास के इन विभिन्न अपेक्षाकृत स्वतन्त्र अगागो की कल्यता स्तुत्य है, यदि उनका चित्रण, अकन-चरित्राकन-वस्तु अपने दायरे मे स्वतन्त्र रूप से भी मुखर और सफल है, तो हम उन्हे 'फॅलिग' नही कह सकते। तब यह कहना अनुचित नही होगा कि उपन्यास-कार, यदि चाहता, उनसे अपनी प्रधान कथा-धारा को बचा सकता था, यानी कि उसने उनको 'विघ्न', 'कण्टक' या 'रन्ध्र' न मानकर, मूल के अलकार भी न मानकर, समाज के उन अनेक अगो का सूचक (इन्डेक्स) माना हे, जिनका बोध कराने मे उपन्यास की प्रधान कथा-वस्तु अक्षम होती है, पर जिनका बोध सर्वथा विषयान्तर नही, वरन् 'समवाय सम्बन्ध' से पाठक के लिए अनिवार्य होना चाहिए। इस स्थिति को मान लेने पर यहां उन विविध तथाकथित प्रसगो की चर्चा स्वाभाविक हो जाती है। और उन प्रसगो का कथा या वस्तु-भाग, एकाध को छोड, इतने महत्त्व का नही, जितने महत्त्व का उनके पात्रो का चित्रण है। इसलिए उनके प्रसग और भाव-चित्रण के साथ प्रधानत हम उनके पात्रो के चित्रण पर विचार करेगे।

'गर्म राख' उपन्यास चूँकि समाज की अनेक भूमियो का समाहित क्षेत्र प्रस्तुत करता है, उसके पात्रो की सख्या भी बडी हे, असामान्य। सख्या का आधिक्य अधिकतर साहित्य मे एक प्रकार की कमजोरी ही माना जाता है, पर चूँकि इसका सीधा सम्बन्ध उस अहम प्रश्न से हे, जो हमने पिछले पैराग्राफो मे उठाया है, यहाँ हम इस तथाकथित कमजोरी पर विचार न करेगे। आरम्भ मे ही यह कह देना उचित है कि पात्रो का चित्रण 'अश्क' ने गजब की खूबी से किया हे। अपने पात्रो को जीवन मे जैसे वह नगा जानता है, जिससे उनके बाह्यान्तर स्पष्ट झलक जाते है। उसके गम्भीर, परुष हास्यास्पद पात्र अपने सहज आधार से उठते और अपने वृत्त-व्यास मे सहजाकार होते है। इतना मासल इतना स्वाभाविक, जहाँ-तहाँ इतना प्लैस्टिक मूर्तन उनका होता है कि कम-से-कम हँसी के प्रसग मे हँसी रुकती नही। भाव और भाषा के सान्निध्य मे प्रसग चमक उठते है और हम उपन्यासकार के आभास-जगत् मे अलग, जीवित ससार मे उतर पडते हे।

सत्या का उल्लेख ऊपर हो चुका है। वह ससार-चतुर नारी है। जगमोहन को अपनी सहायता और गुणो से जीतकर अपना भविष्य बनाना चाहती है। इस बीच जब मौका आता है, उसे बताने या स्थिति से प्रभावित करने के प्रयत्न मे भी वह नही चूकती कि उसके पिता ने मार्गभ्रष्ट हो जाने पर भी मानवीय कर्तव्य को ईमानदारी से निबाहा था और अविवाहिता, उससे समाजत अनौरस सम्बन्ध से प्रसूत सत्या का पालन भी किया था। यह प्रयोग वैसे जगमोहन

पी लेते है, इसका पता उनकी बनावट से जल्द नही चलता। इनका 'अश्क' ने अच्छा पर्दा फाश किया है। यहाँ यह सम्भव नही कि प्रत्येक पात्र की शल्य-क्रिया की जाए। इतना कह देना पर्याप्त होगा कि हरीश से नूरा तक, सत्या से दुरो और चातकजी की पत्नी तक, चातक, शुक्ला, धर्म, स्वरूप, भगतराम, सरदार आदि सभी समाज के जीवित फडकते अग है और उनके चित्रण मे उपन्यासकार सर्वथा सफल हुआ है।

पर प्रश्न इतना पात्रत्व या चित्रण का नही है। इनकी अपनी-अपनी अकेली शक्ति नही है, हो भी नही सकती। इनके अपने-अपने वर्ग है। अपने-अपने स्तर, जिन पर वे स्वय भासमान है और अपने घिनौने आचरण से अपनी पृष्ठभूमि को भासमान करते हे। हमारी साहित्यिक परिधि का स्पष्ट 'आर्क' (वृत्तखण्ड) ऐसो से निर्मित है, जिनमे नीरव, चातक, शुक्ला आदि प्रधान हैं। उनकी घिनौनी स्वार्थरति से जिस वस्तुस्थिति पर प्रकाश पडता है, वह उपन्यास की मूल कथा न होकर भी दर्शनीय है। उनके बनाये सस्कृति-समाज और दुरो-हरीश की गोष्ठी मे कितना प्रकारत, गुणत अन्तर है, यह कहना न होगा। इसी प्रकार स्पष्ट है कि धर्मजी का व्यक्तित्व भी आज के साहित्य-व्यवसाय की किस हद तक कुन्जी है। ईमानदार, पर 'स्टैंडर्ड ऑव् लिविग' की मान-मर्यादा बचाते हुए, अनेक अनैतिक कृत्यो के दोषी ज्योतिस्वरूप स्वय समाज के एक अग के प्रतिबिम्ब है। वैसे ही आज की पहेली-दुनिया का भी यथार्थ सरदार पिता-पुत्रो और टेकचन्द-थानेदार की बातचीत मे खुल पडा है। 'अश्क' ने जो यह दावा किया है "आम पाठक से प्रार्थना है कि वह नाम के चक्कर मे न पडे उपन्यास को एक बार पढ जाए, निश्चय ही वह उसमे पर्याप्त मनोरजन पाएगा।" अन्यथा नही है, क्योकि उपन्यास मे मनोरजन की भूमि अनेकत: और प्राय सर्वत्र प्रस्तुत की गयी है। इस दृष्टि से उपन्यासकार सफल हुआ है। परन्तु उपन्यास का उद्देश्य क्या बस यही है ?

उपन्यास क्या समस्याओ का हल नही देता ? यह सही है कि **'गर्म राख'** के विभिन्न प्रसग अपनी स्वतन्त्र व्यजना लिये प्रस्तुत हुए है, उसमे वे सफल भी हुए है। जहाँ तक हमारे समाज के घिनौने स्तरो को खोलकर रख देने की बात है, उपन्यासकार, निश्चय, अपने मन्तव्य मे सफल हुआ है, पर इसके आगे वह हमे नही ले जा पाता। सत्या किनारे लग गयी है। पर दुरो और हरीश के सघर्ष-अध्यवसाय अविकसित रह जाते है। वही वस्तुत उसकी सफलता की कसौटी भी होता। हमारे घिनौने सामाजिक रूप खुलकर जरूर सामने आये है, पर उनका हल क्या है, यह नही तय हो पाया। दुरो और हरीश का आन्दोलन आगे बढकर जो अपने विविध रूपो मे खुल पाता, तो सारी

समस्याओं का समाधान शायद मिल जाता। मार्क्सीय दृष्टिकोण इतना सार्वभौम दृष्टिकोण है कि वह अपने अर्थाधार पर टिके समाज के साहित्यादि सभी प्रकरणों का हल माँगता और देता है। वह आन्दोलन सर्वतोमुखी समष्टि का है। उसे जागे उठाना था। काश कि उपन्यासकार उस गुह्य को अनवगुंठित कर पाता! हम आशा करते हैं कि अश्क गर्म राख के उत्तरार्द्ध के रूप में इसका अगला भाग लिखेंगे जिसमें अपने विकृत समाज की कल्याण चेतना की ओर भी सक्रिय होगा।

८

'दिव्या' की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

यशपाल हिन्दी के यशस्वी लेखक है। प्रगतिशील साहित्य-जगत् मे उन्होने अपना साका चलाया है। हिन्दी के कहानीकारो मे उनका स्थान मेरी दृष्टि मे बहुत ऊँचा है। इधर उपन्यास-क्षेत्र मे भी उन्होने लेखनी उठायी है और उसमे वे काफी सफल भी हुए है। 'दादा कामरेड' बहुत कुछ 'आपबीती' होकर भी शरत् बाबू की पृष्ठभूमि से उठा था और उसकी गठन मे जैनेन्द्रजी की 'सुनीता' का भी कुछ हाथ था। परन्तु 'देशद्रोही' लेकर जब वे हमारे सामने आये तब हमे वे अत्यन्त सुघड लगे। यद्यपि इस कृति के आरम्भिक परिच्छेदो पर 'काकेशस का कैदी' की प्रचुर छाया है, फिर भी उसमे यशपालजी की अपनी कला भी खूब निखर आयी है। उसके दोषो को न भूलते हुए भी मैने उसको सराहा था, कितनी ही बार श्री यशपाल को मैने भारत का शोलोखाव कहा था। उसके बाद ही उनकी 'दिव्या' का प्रादुर्भाव हुआ।

दिव्या का जगत् दूसरा है। दूर का अतीत—धुँधला-धुँधला, ईसापूर्व दूसरी सदी का। 'दादा कामरेड' आज का भारत, निकट-भूत की राजनीतिक पृष्ठभूमि लिये आया। 'देशद्रोही' अपनी भौगोलिक सीमाएँ सकुचित न रख सका। अन्तर्राष्ट्र और अन्तर्जाति की शृखला मे भारत की भी एक कड़ी उसमे झकृत हुई। 'दिव्या' ने अपना रगस्थल नितान्त नया चुना, सुदूर का, अनजाना, कल्पनापरक। यशपाल का इतिहास का अध्ययन शायद इस सृष्टि का कारण था। प्रगतिशील आलोचक प्रगतिशील साहित्यकार मे उद्देश्यपरक प्रयत्न ढूंढता है। हमने भी 'दिव्या' मे कुछ इस प्रकार का निर्माण पाने की लालसा की। लेखक ने स्वय अपने 'प्राक्कथन' मे हमारी इस उत्कण्ठा को जगाया—'अपने अतीत का मनन और मन्थन हम भविष्य के लिए सकेत पाने के प्रयोजन मे ही करते है।' इतिहासप्रणयन का प्रेमी निश्चय इस प्रतिज्ञा से आकृष्ट होगा। मैं भी हुआ और भली प्रकार मैंने 'दिव्या' पढा-समझा। फिर 'दिव्या' के 'महाभूतो' का विश्लेषण भी कुछ सोच-समझकर, कुछ सावधान होकर ही करना

ऊपर ही (टाइटिल पेज पर) स्थिति का स्पष्टीकरण है—बौद्धकालीन इतिहास। बौद्धकालीन इतिहास का कोई अर्थ नहीं होता। भारतीय इतिहास में ऐसा कोई काल नहीं आया जिसे हम बौद्ध काल कह सकें। ईसापूर्व छठी सदी में जब शाक्यसिंह दहाड़ रहा था तभी महावीर जिन कैवल्य की घोषणा कर रहा था। तभी बुद्ध के मित्र अपने पिता बिम्बिसार का खून कर उस पाप से त्राण पाने के लिए एक लाख पशुओं को अपनी यज्ञशाला में बाँध अजातशत्रु वेदी में अग्निसंचार कर रहा था। तभी जब पुत्र बोधी तथागत के वचन सुन रहा था पिता उदयन पद्मावती और वासवदत्ता के प्रणय इतिहास को यमुनावर्ती कौशाम्बी में सिरज रहा था जिसकी रोमांचक गाथा भास और सुबन्धु कालिदास और हर्ष ने गायी। तभी जब पिता प्रसेनजित बुद्ध के धर्मोपदेश सुन रहे थे दस्युराज अंगुलिमाल कोसल को उजाड़ रहा था और पुत्र विडूडभ शाक्यों के कपिलवस्तु को अग्नि को अर्पण कर रहा था। क्या इस काल को बौद्ध काल कहेंगे? अशोक के राज्यकाल को शायद कुछ इस प्रकार कह भी सकें परन्तु अशोक का काल लिया क्या काल तो नहीं। इसके बाद भी बौद्ध काल नहीं कहा जा सकता। उसके सामने ही शशांक ने बोधगया के बोधिवृक्ष की जड़ काटकर उसपर अग्नि के अंगारे रख दिये थे जिससे वह फिर पनप न सके। सो यह भी बौद्ध काल नहीं हो सकता। वास्तव में इस प्रकार का कोई काल विशेष भारत का इतिहास नहीं जानता।

यशपालजी ने चन्द्रगुप्त मौर्य के कुल को नापित का कुल माना है। उन्नीसवीं सदी में कुछ लोगों का ऐसा विचार अवश्य था परन्तु आज भी कोई ऐसा मानता है इसमें सन्देह है। ऐतिहासिक अनिर्वचनीयता दिखाना का प्राण है। परमभट्टारक जो विशिष्ट अर्थ में गुप्त सम्राटों ने प्रयुक्त किया वह यशपालजी ने उनसे लगभग सात सौ वर्ष पूर्व ही प्रचलित कर दिया! और वह भी गणपति के सम्बन्ध में! (पृ० ७६ ११० १६६ १ ७ १६८ आदि)। यशपालजी ने अलिन्दों में भी प्रहरियों का इन्तजाम कर दिया है। अलिन्द कहते हैं बारजे अथवा खिड़की से बाहर निकले हुए भाग को। फिर क्या है जो द्वार पर द्वारपाल हों और बारजे पर प्रहरी न हों? (पृ० ७६)। और आपकी सर्जन शक्ति ने भयंकर सृष्टि की है। ग्रीकों के एक देवता को आपने देवी कर लिया है। इतिहास की विशेषज्ञता साधारण ज्ञान की शायद दुश्मन है इसीलिए यशपालजी का आधार यहाँ निकम्मा सिद्ध हो गया है। गौतम ने इन्द्र को स्त्री कर लिया फिर यशपालजी ग्रीकों के फादर जीयुस को यवन देवी क्या न बना दें देवी जीयुस के मन्दिर में अश्वबलि का समारोह क्या न करायें (पृ० ८५ और १०२)! क्या मैं निवेदन करूँ कि ग्रीकों के जीयुस रोमनों के जुपिटर और प्राचीन हिन्दुओं के प्रजापति (द्यौस)

की भाँति प्राणिमात्र के जनक थे ? अगर आत्मा मे विश्वास करते हो तो आगे त्राण नही है। जीयुस, जुपिटर और प्रजापति चाहे यहाँ मर चुके हो पर वहाँ नास्तिकों से बदला लेने के लिए उधार खाये बैठे है। फिर यह 'जन' का प्रयोग (पृ० ७४, ७५) जाति के अर्थ मे कैसा ? 'जन' का इस प्रकार प्रयोग तो वैदिक-काल मे ही हुआ है, शुङ्गकाल मे कैसे हो गया ? इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के दर्शन का फल तब तक न होगा जब तक हम 'कालविरुद्धदूषण' का एक अत्यन्त ज्वलन्त उदाहरण न पा लें। 'आस्थानागार के मुखद्वार के तोरण से पिंजरे मे लटकी वाचाल सारिका बोल उठी—न्यायात् पथ. पद प्रविचलन्ति धीरा' पृ० २७ (श्लोकाश इस प्रकार है—न्यायात्पथ. प्रविचलन्ति पदन्न धीरा·)। यशपालजी शायद स्थिर नही कर सके कि धीरो के चरणो की बात है अथवा गीता आदि के प्रवचनो के पदो की बात। पर एक बात है कि जहाँ देववाणी बोलने वाला मेधावी मनुष्य गलती कर सकता है वहाँ भला बेचारी सारिका की क्या बिसात ? परन्तु शब्दाडबर मे हम क्यो पडे ? हमे तो ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ही केवल देखनी है। सही, पर क्या मडनमिश्र के अतिरिक्त और किसी के द्वार पर इस प्रकार की सारिका उद्घोष नही कर सकती ? पर टेढी खीर और है, यह नही। यह उक्ति किसकी है ? कविवर भर्तृहरि की। नीतिशतककार ईसवी सातवी सदी के भर्तृहरि की ! फिर क्या हुआ, पुष्यमित्र शुग के काल मे, भर्तृहरि से लगभग नौ सौ वर्ष पूर्व, उस कविवर का कोई पूर्वावतरण नही हो सकता ? और यह 'अगरखा' (पृ० ६५ ६६, ६७) क्या बला थी ? लेखक ने शायद इसे 'अगरक्ष' से बना लिया है, लगता भी है सस्कृत-सा और आजकल अगरखा चलता भी तो है, पर एक बात, क्या तब भी चलता था ? पुराविद् लोग तो कहते है कि अगरखे का प्रचार कुषाणो ने भारत मे किया और उनका आगमन यहाँ ईसा की पहली सदी मे हुआ, फिर उससे तीन सौ वर्ष पूर्व भारत मे उसका प्रचार क्योकर हो गया, और वह भी सबमे आमतौर से ? शाण्डेय भी तो उसे पहनता है। अन्दाज है शायद ग्रीको ने चलाया हो। पर खुद ग्रीक तो उसे पहनते नही थे, फिर भारतीयो मे कैसे चलाया। रोमनो मे 'तोगा' जरूर चलता था जिससे चोगा और अगरखा बने, परन्तु रोमनो का तब भारत से क्या सम्बन्ध ? ग्रीक स्वय तो घुटने तक का ('ट्यूनिक' छितोन, एक प्रकार का कुर्त्ता) पहनते थे। होगा, पुराविदो को तो एक रोग है पुरानी बातो का हवाला देकर आज के लेखको मे त्रुटियाँ निकालने का। कहने दो उन्हे कि कुषाणो के पूर्व (अर्थात् प्रथम सदी ईसवी) के सग्रहालयो मे सगृहीत सहस्रो मूर्तियो मे एक भी ऐसी नही जिसको अगरखा पहनने का शऊर हो, नगी खडी है।

यह तो हुई 'दिव्या' की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि। अब जरा इस पृष्ठभूमि

पर व्यक्ति और समाज की प्रवत्ति और गति का चित्रण' तो देखें। व्यक्तित्व तो इस उपन्यास म है ही नहा। व्यक्ति बहुत हैं पर उनकी आकृतियाँ अत्यन्त अस्पष्ट हैं। दिव्या पढ लेने पर शायद दिव्या का ही नाम याद रह सके। चरित्रचित्रण तो उस उपन्यास म कहीं देखने को नही मिलता। व्यक्ति समाज म एक दूसरे से इस प्रकार निशब्द निर्जीव से टकराते हैं जस नावदान के कीडे। व्यक्तियो के स्थान पर जसे उनकी छायाएँ घूमती टकराती हैं। समाज शब्दो की जटिलता और वाक्यप्रणयन की अगमयता म खो गया है। कही-कही वेश्याओ की बस्ती अथवा शराब की भट्टी म उसके दशन हो जाते हैं। कही सघष का नाम नही। बौद्ध-ब्राह्मणसघष ही यदि उचित रीति से दिखाया जा सका होता तो बहुत कुछ सम्पन्न हो जाता परन्तु यहाँ तो जान पडता है स्वय लेखक ही अभी निश्चय नहीं कर सका कि उसका साध्य विषय क्या है। इतना प्रयास करके भी वह न तो राजनीतिक सघष ही उपस्थित कर सका न सामाजिक ही। पुष्यमित्र की ही विध्वसनीति अथवा मनुस्मृति' की ब्राह्मण प्रधान धमपद्धति दिखायी जा सकती थी। दासो और चाण्डालो तथा नारियो का पददलित जीवन तक्षशिला क बाजारो म पिताआ द्वारा लडकियो का बचा जाना ग्रीकराज मिलिन्द और बौद्ध दाशनिक नागसेन के सशक्त तक आदि अनेक स्थल ऐसे थ जो सघष उपस्थित कर सकते थ। परन्तु यहाँ तो उपन्यासकार दिव्या क छज्जे स ही नही उतर सका। उसम उसने दिखाया केवल इतना कि दिव्या वश्या तो हा सकती है पर कला की अधिष्ठात्री नही हा सकती। इस भी स्वीकार करना कठिन है। उन्ही दिनो लिच्छवियो म नगर की सबस सुदर स्त्री को चाहे वह ब्राह्मणी ही क्यो न हो उसी पद पर बिठाने की प्रथा थी जिसपर दिव्या को प्रतिष्ठित करने का उन्होने निष्फल प्रयत्न किया है। दिव्या के कथाकाल मे ही शाकल के पडोसी कठो मे ही स्वयवर की प्रथा थी जहाँ ग्रीक हिन्दू तक का विचार न था। इस सामाजिक निरूपण म भी यशपाल न भद्दी भूल की है। जसे उत्तर भारत म भोजपत्र की हस्तलिखित पुस्तको की जगह व ताडपत्र की पुस्तकों का हवाला दते हैं (पृ० ५३ १४६)। वास्तव म ताडपत्र दक्षिण भारत म अधिकतर प्रयुक्त होते थे और भोजपत्र उत्तर भारत म। इसी प्रकार नागरिक परिधान म जो उन्होने अन्तर्वासक का प्रयोग धोती के लिए किया है वह अशुद्ध है (पृ० ११ ४३ ७६ १३६ १५८)। 'अन्तवासक' गृहस्थो की धोती के लिए शायद कभी प्रयुक्त नही हुआ। उनकी धोती के लिए अधोवस्त्र का प्रयोग हुआ है। अन्तवासक बौद्ध भिक्षुओ के त्रिचीवर' (उत्तरासग अन्तर्वासक और सघाटी) मे स एक था नीचे का वस्त्र। इसी प्रकार पृथुसेन और रुद्रधीर नामक परिच्छेद म लेखक ने जो नृत्य का दृश्य खीचा है वह किसी प्रकार उस समय के भारत का नहीं हो सकता।

ग्रीस देश का भी नही। वहाँ तो तब भारत से कही बुरा परदा था। ग्रीक नाटककार मिनान्दर का एक पात्र कहता है—A Good woman is one who never peeps out of the street door She is like a good coin which people hoard while a bad woman is like a bad coin that circulates in the market.[1] इस प्रकार के नाच न तो ग्रीको मे उस समय होते थे और न स्पार्ता मे ही। इन पृष्ठो मे जिस नाच का दृश्य बडे आडम्बर और शिक्षित रूप मे खीचा गया है, वास्तव मे वह सर्वथा आधुनिक है—बाल-डान्स का। यह यथार्थत जमाने का जादू है, लेखक के सिर पर चढ-कर बोल रहा है। यह है 'दिव्या' मे 'व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्रण'।

हमने देखा कि यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि कितनी काल्पनिक है इसका वातावरण बिलकुल ही ऐतिहासिक न रहा जिसके 'आधार पर यथार्थ का रग देने का प्रयत्न' किया जा सकता। ऐतिहासिक वातावरण अशुद्ध और अस्पष्ट होने के कारण 'रग' फीका हो गया, प्रयत्न निष्फल।

'अपनी न्यूनता जानकर भी लेखक ने कल्पना का आधार उसी समय को बनाया'—इसका कारण क्या था? उसके ही शब्दो मे 'उस समय के चित्रमय ऐतिहासिक काल के प्रति लेखक का मोह'। फलत उसकी इस कृति मे वे सारे दोष आ गए जो मोह से आच्छन्न मस्तिष्क के प्रयास मे सदा आ जाया करते है—साध्य की अस्पष्ट रूपरेखा, वस्तुकथा का बोझिल आकृतिहीन वितन्वन, उद्देश्यहीनता।

इस बात को यहाँ स्पष्ट कर देना उचित होगा कि उपन्यासकार इतिहास नही लिखता, लिखता वह उपन्यास ही है। इसलिए इतिहास उसका प्रतिपाद्य विषय नही हो सकता। परन्तु जो उपन्यासकार इतिहासपरक अथवा ऐतिहासिक पृष्ठभूमिपरक उपन्यास लिखता है उसे इतिहास की आधारभूत घटनाओ के सम्बन्ध मे तो कम-से-कम भद्दी भूले नही करनी चाहिएँ। आलेजाँद्र द्युमा के 'तीन तिलगे' अथवा 'मान्ती क्रिस्तो' इतिहास नही, ऐतिहासिक उपन्यास तक नही है। परन्तु जहाँ-जहाँ उनमे वस्तु-कथाकालिक ऐतिहासिक आकाश खुलता है वहाँ-वहाँ हम उसे स्पष्ट सच्चे रूप से देख तो लेते है। अनातोल फ्रास की 'ताया' (थेईस) इतिहास की पुस्तक नही है परन्तु उसके मार्कस अरीलियसकालीन

---

१. स्मृति से उद्धृत कर रहा हूं, गलती हो सकती है। "भली औरत वह है जो घर से बाहर नही झाकती। वह उस अच्छे सिक्के की भाति है, जिसे लोग घर में गाडकर रखते है; बुरी औरत खोटे सिक्के की तरह है जो बाजार में चलती है।"

(अंग्रेजी अनुवाद से)

उनमे सघर्प दिखायी नही पडता और समाज हमारी आँखो के सम्मुख स्पष्ट नही हो पाता। लेखक का उद्देश्य इसी कारण असफल हो जाता है और उसका प्रयास व्यर्थ। कथानक मे कही चढाव-उतार नही, वह निष्प्राण-सा दिखता है।

प्राचीनता की ध्वनि बनाये रखने के लिए 'दिव्या' के लेखक ने लाक्षणिक शब्दो का उचित-अनुचित प्रयोग किया है। इनके प्रयोग का अनौचित्य दिखाने के लिए समय और विस्तार दोनो की आवश्यकता होगी। पुस्तक पढकर जान पडता है कि लेखक ने पहले इन लाक्षणिक सकेतो को अपनी नोटवुक मे लिख लिया है फिर उनका उसने प्रयोग किया है। और सबका ही करना था क्योकि वे उसकी नोटबुक मे थे। उनका प्रयोग सही हो या गलत, इससे उसको कोई सरोकार न था। उसने ध्वनि खडी कर दी। ध्वनि को उसने सगीत समझा और अभागे कुरग की भाँति मारा गया। किसी क्यूरियो (अजायव) की दुकान मे जाये तो अत्यन्त प्राचीनकाल की वस्तुएँ अर्वाचीन वस्तुओ के साथ मिली पायेगे। डीलर प्रत्येक वस्तु को महत्त्वपूर्ण और अमूल्य समझेगा। वास्तव मे डीलर पुराविद् नही है और अपनी वस्तुओ की समझ उसे अभी प्राप्त करनी है। पुराविद्-कलाकार की अवस्था तो तीसरी है, अभी दूर की।

प्लाट की अस्पप्टता, भाषा की जटिलता और साकेतिक शब्दो के अनुचित प्रयोग ने कुछ ऐसा षड्यन्त्र किया है कि कथा का प्रवाह अत्यन्त दुरूह और कृत्रिम हो गया है। इसी कारण आपसे पुस्तक समाप्त करने के तुरन्त वाद भी यदि उसकी कथा दोहराने को कहा जाय तो, मेरा दावा है, आप उसे दोहरा न सकेगे। अत उपन्यास का एक उद्देश्य जो मनोरजन है वह हमे लभ्य नही होता। भाषा की कृत्रिमता ने उसे बिलकुल बोझिल कर दिया है और अनेक शब्दो का अक्षरविन्यास (हिज्जे) निरन्तर गलत हुआ है।

नीचे कुछ जटिल अथवा असुन्दर वाक्य दिये जाते है। केवल कुछ ही

"मण्डप कलशो, कदलीस्तम्भो, तोरणो, वसत आरम्भ ये पल्लवित आम्र पत्र के वन्दनवारो और मजरियो से सुसज्जित था।" (पृ० ९)

"सूर्य के क्षितिज मे उतर जाने पर सुश्री, सबल अश्वो से जुते मद्रगण के रथ और द्रुतगामी, सुन्दर वस्त्र धारण किये शिविका वाहको के कधो पर शिविकाएँ और अश्व जनप्रवाह के बीच सुरक्षित रखे गये मार्ग मे मण्डप की ओर आने लगे।" (पृ० १०)

"मस्तक, कान, कण्ठ, बाहूमूल, कलाई और अगुलियाँ चन्द्रिका, तूलिका-लेखन, कुण्डल, हार, माला, अगद, वलय और अँगूठियो से पूर्ण थे।" (पृ० ११)

ये क्या साहित्य के वाक्य हैं? इस भरती के बिना क्या इन आभूषणों का निर्देश नहीं हो सकता था? 'कला के प्रति लेखक का मोह' इस पसारी के बीजक

को कसे गले से उतार गया ?

'ऊपर पुष्ट वक्ष और नीचे नितम्ब।' (पृ० ११)

स्त्रिया के प्रसाधन के वणन के बीच यह एक वाक्य मिलता है। परन्तु क्या यशपालजी इस वाक्य म बतायी अवस्था विशेष के विरुद्ध किसी अन्य रूप की भी कल्पना कर सकते हैं—जसे ऊपर नितम्ब और नीचे पुष्ट वक्ष' ?

उसकी पीठ पीछे खडी दासी उसके आजान (अजाने ?) म ही व्यजन स मन्द वातास कर कक्ष की ऊष्मा और पावस म उत्पन्न मच्छरा को दूर किये थी।' (पृ० ७१)

"ज्येष्ठ प्रवृद्ध तात की उदारता से प्रश्रय पा मुण्णी धम के प्रति अपनी प्रवत्ति के कारण कुमारी की उच्छखलता को प्रोत्साहित किये ह। (पृ० ८७)

वयोवद्ध धमस्थ के स्वर्गीय ज्येष्ठ पुत्र के एकमात्र पुत्र की एकमात्र कन्या सभी की दुलारी थी।' (पृ० ३१)

"वह धमस्थ के अग्रज पुत्र अग्रज पौत्र और अग्रज प्रपौत्री सभी की प्रतिनिधि बन विशष आदर की पात्र थी। (पृ० ३७)

उस समय महा पितव्यो पितव्यो मातामहि और पितयाजो भाइया और बहनो का स्नेह बोझ सा जान पडने लगता। (पृ० ३८)

दिव्या के सिसकने क शदब (शब्द ?) स विचारतन्द्रा से जाग पृथुसन ने उस कटि से अपने बाहुपाश म समेट आलिङ्गन म हृदय पर ले लिया। (पृ० ६१)

चिन्ता रूपी कलिका पल्लवा से अवरुद्ध दिव्या के हृदय का पुष्प अभी अपन पटलो को प्रस्फुटित नही कर पाया था कि दूसरी चिन्ता की घाम स वह कुम्हलाने लगा। (पृ० ८६)

सीरो की उपस्थिति और उसका निषेध पृथुसेन को बलात उसके अक से छीना था। (पृ०१०४)

पुरोहित का आमन मल्लिका के अनुरोध स धम क व्यवस्थापक गणपरिषद् के महाअमात्य महापण्डित महाआचाय रुद्रधीर ने ग्रहण किया। (पृ० २६८)

एस स्थलो की दिव्या म भरमार है। कुछ अनुचित स्थल और देखें। सबोधन का परम्परा कई बार साधारण वक्तव्य म भी जा घुसी है जसे—'आर्य मारिशा (आर्या मोशा ?) की चिन्ताजनक अवस्था क कारण (पृ० ११८), 'आर्य (आया) अमिता सुविधा स सुन जान योग्य (पृ० ११६) आर्य अमिता के शब्द उसके कानो म गए' (पृ० वही) आर्य मा रा क कक्ष म आर्य अमिता न सबको सुनाकर कहा (पृ० १२०), आदि। कई स्थानो पर प्रयोग है— उदयभानु का (को) सम्बोधन किया' (पृ० ५६)। और देखिए पृ० ६७

८६, १६३, १६८, १६६ आदि। पृ० २७० पर यशपालजी लिखते है—
'' क्षण भर आचार्य की ओर निष्पलक देखती रही।' क्षण भर तो निष्पलक आदमी देखता ही है। एक पलक से दूसरे पलक के गिरने तक जो काल है वह पल या क्षण है फिर उसने एक क्षण तक निष्पलक कैसे देखा ? पृ० ९ पर एक पद इस प्रकार है—'सागल के विशाल ताल पुष्पकरणी' विशाल का अर्थ है शाल वृक्ष की भाँति ऊँचा। सरोवर के विस्तार के लिए उसका प्रयोग अनुचित है। पृ० ४६-४७ पर पृथुसेन दिव्या को 'भद्रे' आदि कहकर ही उसका सबोधन करता है, पर दूसरी ही वार मिलने पर 'प्रिये' और 'तुम' वेभाव के पडने लगते है।

विस्तार भय के कारण विना उन्हे शुद्ध किए नीचे उन अशुद्ध शब्दो को दे रहा हूँ जो केवल प्रतीक रूप से समझने चाहिएँ क्योकि उनका विस्तार प्रचुर है—

'स्पर्ष' (पृ० १०, ११, १२, ६१, ७०, ७२, तीन वार ९५, १०३, १०४, १०६, १०८, १२६, १५५, १६०, १८८, १९४, २२३, २४०, २४१, २६६); 'पत्नि' (पृ० २६, ९२ दो वार, १११, ११२, ११८, १३९, १४६ तीन वार, १४७, दो वार, १५३, २१६, दो वार, २१७, दो वार, २२३, २३८ दो वार); श्राप(पृ० २९), दुश्कर्म(पृ० २९), निसत्व(पृ० ३३), निसकोच(पृ० ४०, २१०), सहस्त्रो (पृ० ४९, ५५, ५६, ८०, ८३, ८४ दो वार), परामर्ष (पृ० ५६ दो वार, ६७, १३४), त्लितियाश (पृ० ५९), शद्व (पृ० ६१, ७०, ७२, ८३ दो वार, ९८, १०५ पटने मे अरमूद खाते है, ग्वालियर मे चोर कपडते है और पजाव मे काचू से काटते है, फिर यशपालजी शब्द को शद्व और मध्याह्न को मध्यान्ह पृ० ८८ क्यो न लिखे ?), दृष्य (पृ० ६३, ९८ दो वार), अदृष्य (पृ० २६६), ततकाल (पृ० ६९), म्लेच्छ-मदनी(पृ० ८५), पुष्कर्णी (पृ० ९. ९०, ९३, ११५, ११८), पुष्कर्णी (पृ० २६८), परिणित (पृ० ९८, १०४, १४४), अर्धागिनी (पृ० ९७), अर्धांगी (पृ० २२२), निश्वास (पृ० ७९, ८२, १६५, २५९), निश्प्रयोजन (पृ० ९१, २१०), दुष्कल्पना (पृ० ९३, १०५), निश्पलक (पृ० १२०, १२२, १५५, १६० दो वार, २७० दो वार, २७४), निश्प्राण (पृ० १६५), निश्प्रभ (पृ० २६१), वाश्प (पृ० १०४), विश्टर (पृ० ९१, १९७), अन्तष्कक्ष (पृ० १९१), अन्तस्कक्ष (पृ० वही), शुश्क (पृ० १६२), दुश्प्राप्य (पृ० २३९), वहिश्कृत (पृ० २३३), निश्क्रिय (पृ० २५१), निश्क(पृ० १४६ दो वार), उष्णीश-धारी (पृ० १६७), अन्तसवृत्ति (पृ० १७९), अभिशेक (पृ० १०५), सुदूर (पृ० १०१), दुरुह (पृ० ८८), निरुत्साह (पृ० ८८, १४७), गुरू (पृ० १७२, २६५), गुरूदेवी (पृ० १७२, २६४), गुरूपूजा (पृ० २०७), गुरू-

भार (पृ० १०४) कुन्वघु (प० १७५ दो बार १७८ २०६ २१५, २२२ २७४ तीन बार) पुत्रि (प० २३२) पवित्र (प० २६५) सुश्रुप्त (प० ५२२) मूशिक (पृ० २४५ २४८) सप्तऋषियों (पृ० २४३) वय वद्ध (प० १८१) नारित्व (प० १६६ २०४ २४२) गमाप्ती (प० २०७) जानाप (प० २०३ दो बार) श्रूप (पृ० १६५) मित्ता (सिक्ता ? प० १४६) हिंम्वक (पृ० १२५) हिम्व्र (प० १२६ दो बार) समय्य (प० २७२) शिखिर (पृ० ६६ १५८ दो बार) पीठीका (प० ६६)। मन (राय के अथ म पृ० २३) प्रणाम (प० २४४) और तात (अनक स्थलो पर) ता हन्त के साथ परन्तु अल्म (प० ८०) आशिप (पृ० ४२) परिषन (प० ७५ तीन बार ७८ ७६) और स्वयम (प० ७१ १३१ १७६ १७६ १८० १६७ २२४ २२६ २६२) आदि विना हलन्त के प्रयुक्त हुए हैं—एक उद्धरण है—आमान मतन रक्षयेत (रक्षेत) दररपि (दाररपि) धनरपि (प० १११)।

दिव्या प्राचीनकाल का असुन्दर अयथाथ चित्रण है। इस कारण यशपाल की जो वतमान को चित्रित करन की सहज प्रतिभा है वह भी इसम नही मिलती। वास्तव म हम सबकी अपनी-अपनी सीमाए हैं जिन्ह जान लेना श्रेयस्कर ही नही नितान्त आवश्यक है। जितना ही शीघ्र साहित्यकार अपनी मेधा का प्राकृतिक भाग और अपनी सीमाए पहचान लेगा सफलता उतना ही शीघ्र उसकी अनुयायिनी होगी। कवि लेखक कलाकार आदि सब-कुछ बन जाने की जो दुबलता है वह साहित्यकार को हानि ही नही पहुचाती उसकी प्रतिभा का सवथा अन्त भी कर डालती है। अनधिकार-चेष्टा से वचना चाहिए। यशपाल निश्चय ही इस ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र म अनधिकारी हैं।

प्रतिभाशाली यशस्वी लेखक को आधार से गिरते ही देखकर उसे सावधान करने के लिए मुझे लिखना पडा वरना यशपाल का स्थान हिन्दी म कहानी और उपन्यास दोनो ही क्षेत्रों म अगली पक्ति म होगा। हमारी कामना है कि हमारे शोल्म एश[1] बनें।

---

१ प्रसिद्ध कहानी उपन्यासकार -विदेश में तीन 'गार' का लेखक।

९

तीन उपन्यास

हिन्दी के हाल के लिखे तीन उपन्यास हमारे सामने हैं। तीनो जाने हुए लेखको द्वारा लिखे और जाने हुए प्रकाशको द्वारा प्रकाशित। तीनो ही ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टि से बडे महत्त्व के है और पिछले दोनो तो भारतीय सामाजिक और राजनीतिक सघर्ष को आज के अत्यन्त निकट खीच लाते है। इनमे से अन्तिम तो पिछली गई तक की घटनाओ का उद्‌घाटन करता है। तीनो ही वडी सूझ और आस्था से लिखे गए है और तीनो की पकड समाज और उसकी राजनीति की गहरी और मजबूत है। नि सन्देह तीनो का प्राय एक साथ एक साल के भीतर, उसके उत्तरार्द्ध मे ही, प्रकाशन अप्रत्याशित है। इनसे हिन्दी का गौरव वडा है।

शतरज के मोहरे—अमृतलाल नागर हास्य के सुमधुर लेखक है, मानवीय कहानियो और उपन्यासो के लिखने मे उन्हे पर्याप्त सफलता मिली है। प्रस्तुत उपन्यास उनके कृतित्व मे चार चाँद लगाता है और अपने मुखर सौदर्य द्वारा उन्हे उपन्यास-लेखन के राजमार्ग पर आरूढ करता है। वस्तुत शतरज के मोहरे वह प्रतिज्ञा प्रस्तुत करता है जो आगे आनेवाली समानधर्मा रचनाओ की सूचक हैं। प्रस्तुत उपन्यास मधुर और मनोरजक है, लेखक के व्यक्तित्व की ही भाँति मधुर और मनोरजक।

अन्य दोनो उपन्यासो—'भूले विसरे चित्र' और 'मत्ती मैया का चौरा'—के विपरीत 'शतरज के मोहरे' का आयाम छोटा है, प्राय आधा, पर उन दोनो से इसका कथानक कही गठा हुआ है। दोनो के आवरणो के वीच की घटनाओ का दौर कुछ ज्यादा नही, अधिक-से-अधिक दो पीढियो के प्राय मध्यकाल का है, पर घटनाओ की ताजगी और तेजी आँखो के सामने निरन्तर चलते चित्र मे फेकती चली जाती है और दृश्यो का एक 'पैनोरमा' गुज़र जाता है। परिणामत उपन्यास के पात्रो की सख्या भी प्रभूत है, साकेतिक रूप मे तो प्राय अनन्त, अवध के नवावी दरवार की ही भाँति अनेकश विभिन्न, व्यक्ति-

बहुल चरित्रबहुल। अनेक बार तो लगता है कि पात्रो के अपने-अपने वर्ग हैं, उन वर्गों के अपने अपने साँचे हैं जिनमे अपनी-अपनी शक्तियन के साथ व्यक्ति ढलते चले गये हैं। फिर भी वर्गों के प्रधान पात्र उपन्यासकार के रसायन द्वारा स्पष्ट उभरते चल गए है और कही कहा तो उनका आकलन इतना मांसल इतना वस्तुप्रधान इतना एकांतिक हो उठा है कि वे कुशल कलावंत द्वारा कोरी मूरतो की तरह, परन्तु कार्यातुर और व्यग्र हो उठे हैं। शतरंज के मोहरो की ही तरह और जब लगने लगता है कि उमर खय्याम की निम्नलिखित पंक्तिया (फिज्जेराल्ड द्वारा अनूदित) बस यही के लिए लिखी गई था—

'टिज ए चेक्करबोड आव नाइटस एण्ड डेज,
ह्व यर डेस्टिनी विथ मेन फार पीसेज प्लेज,
हिदर एण्ड दिदर मूव्ज, एण्ड मेटस एण्ड स्लेज,
एण्ड वन बाई वन इन द क्लोसेट लेज !

उपन्यास की जबान म गजब की रवानी गजब की चुस्ती है जबान जा जीवित है आमफहम लखनऊ की रोजमरा की। अवध की नवाबी की दरबारी दुनिया क सांकेतिक और लाक्षणिक शब्दो का प्रयोग उपन्यास की भाषा म भरपूर हुआ है जिससे कथानक की पृष्ठभूमि खूब खुलकर भाव और भाषा के सही सयोग से आखो पर छा जाती है। जमाने की परिस्थिति को जमाने की जबान ही व्यक्त करेगी ऐसा कुछ नही क्योकि अगर अकबर के जमाने के बाद जवबरी दरबार की कैफियत उसी की जबान म उपन्यास म रखी जाय तो शायद तुर्की म पात्रो को बोलना पडे। फिर भी अवध की आज की जबान और नवाबो की जबान म कोई खास फरक नही है और उसका मुनासिब उपयोग कथा मे जान डाल देता है वर्णन जसे अनायास परी के परो पर उडता चला जाता है।

गाजीउद्दीन हैदर और नासिरद्दीन हैदर की नवाबी का जिक्र उपन्यास म खुलकर हुआ है। जहा तक मुझे मालूम है हरमसरा की साजिशो का इतना सही और सफल निरूपण हिन्दी के उपन्यास म नही किया गया। पल बक के सफल और प्रसिद्ध उपन्यास इपीरियल वूमेन का हरम जसे अपने समूचे राज के साथ शतरज के मोहरे की लखनवी हरमसरा म खुल पडा है। कुस्तुनतुनिया के खलीफाओ के तुर्की महलो म जिन साजिशो के परिणामस्वरूप सुल्तान और खलीफा सहसा बदल जाया करते थे उनका कुछ आभास लखनऊ क हरम की गतिविधि से पाठक को मिल जाता है। ऐतिहासिक तथ्य का इतना सजीव चित्रण अन्यत्र कम हुआ है। लगता है जसे उस दरबार म जिसकी चाबी वस्तुत हरम की खवासो के पास है। जो निष्क्रिय है वह खडा नही रह सकता सबको शतरज के मोहरो की तरह चलते रहना पडता है जो खडा

रहा वह मरा, जो प्रहार न कर सका वह मरा, जो सफल प्रहार कर सकता है, जो निरन्तर गतिमान रहता है वही जीता है, जी पाता है। किस प्रकार अवध के नवाबों की समूची राजनीति हरम के भीतर सँवरती थी, किस प्रकार वहाँ घात-प्रतिघात चलते थे और किस प्रकार हरम की बाँदियो को अपने मोहरे बना नवाब के दीवान और वजीर जुआ के दाँव खेलते थे, किस प्रकार जब-तक उन वजीरो को ही अपने मोहरे बना कम्पनी के गर्वनर-जनरल और रेजीडेन्ट बादशाह और उसकी बादशाहत को जिच कर देते थे, उपन्यास के परिवेश मे पढिए।

'शतरज के मोहरे' के कथानक मे बडी गति है, उसकी जबान की ही भाँति। कथानक पात्रो के सचरण की धारा है और उस धारा मे उनका सतत उत्थान-पतन, उन्नयन-विलयन होता रहता है। बाँदी आई, हरमसरा मे दाखिल हुई, अपनी चाटुकारिता से बेगम की प्रियपात्र बनी, सौंदर्य से बादशाह को आकृष्ट किया और धीरे-धीरे उसकी प्रिया बन गई। यही कहानी है जो अवध के हरमो की कहानी है, इस उपन्यास की भी कहानी है। और वही बाँदी फिर जैसे-जैसे सूत्र खीचती है वैसे ही वैसे उस परिधि मे घूमने वाली पुतलियो का सचरण होता है, वैसे ही वैसे घटनाएँ आकार पाती और छीजती जाती है। अमीर उमरा, नाजिर दीवान सभी हरम की ओर ही आँख लगाए रहते हैं, कान लगाए रहते हैं, और उनकी जबान वही भाषा बोलती है जो हरम के भीतर उठती हुई सत्ता के अनुकूल होती है।

'शतरज के मोहरे' नवाबी जमाने की एक झाँकी नज़र के सामने खोल जैसे आँखो से गुज़र जाता है, उसी गुज़री हुई दुनिया की तरह, यानी कि बस एक बडा मीठा-मीठा, अत्यन्त आकर्षक ससार दिलो-दिमाग पर छा जाता है। पर अगर सच पूछो तो कोई विशिष्ट पात्र अपनी पात्रता से हमे मुग्ध नही कर पाता, उसका स्थायी महत्त्व हमपर अपना चिरस्थायी प्रभाव नही डाल पाता। कारण कि उपन्यास मे महान् पात्र नही है। बस एक पात्र की महनीयता की झलक जरूर दिग्विजयसिंह की आकृति मे मिलती है, पर वह भी अन्य पात्रो की क्षुद्रता मे खो जाता है और वह प्रतिज्ञा भी सहसा लुप्त हो जाती है। पर इसमे दोष कुछ उपन्यासकार का नही है। नवाबी दरबार की ज़िन्दगी, बादशाह तक की, हरम की ज़िन्दगी है, क्षण-क्षण जी जाने वाली ज़िन्दगी, कि जिनमे जितने क्षण इन्सान जी सका, उतना ही हासिल हुआ। क्षण बाद का जीवन है वह, और उसके विन्यास और वर्णन की सफलता उसकी अनिवार्य क्षणिकता को ही अभिव्यक्त कर देने मे है।

उपन्यास की रोचकता असाधारण है। इस दृष्टि मे और अपने सार्वधि ससार को प्रत्यक्ष कर देने मे, उपन्यास अत्यन्त सफल हुआ है।

त्रियग के स्वरूप होते हुए भी जग एक ही गत्ता में गिरते हैं अपना और जीवन को जग-जग जा रहन वाले और उग जीवर उगा म इयत्ता की शनि मानने वाले सवाई।

आश्चय होता है श्रीकिशन और राधाकिशन की पत्नियो के चरित्र किस उद्देश्य से चित्रित किए गए। जोहरी वग म इस प्रकार के पितो व्यक्तित्व सम्भव हो सकते रहे हो सम्भव है आज भी हो सकते हैं परन्तु उनका समूचा नारी-परिवार ही इस प्रकार चित्रित हो सकता है यह स्वीकार करना कठिन है चाहे वह परिवार १६१० का ही क्यो न हो। सतो और कन्याओं का उपयोग गत आचरण सम्भावना की दृष्टि से समुचित नही जान पड़ता। रन म सा। का गगाप्रसाद के प्रति व्यवहार इतना जल्दी रागात्मक रूप म खुल पडता है कि दनन्दिन जीवन म आज आधी सदी बाद भी उस प्रकार का आचरण कही दिखाई नही पडता। इन दोनो पात्रो के चरित्र का सभवत धीरे धीरे उभारने की आवश्यकता थी।

हाँ उपन्यास म दो-तीन पात्र सचमुच समाज के बदलते हुए रूप के भी परिचायक हैं भविष्य के प्रति आस्थावान भविष्य के निर्माण के प्रति कमठ ज्ञानप्रकाश और मल्का के चरित्र नवल और उसकी बहिन के छिनकी और उसके बडे भीखू का औत्सुक्य अपने वग से ऊपर उठकर मध्यवग की घिनौनी नतिकता का उपहास कर उठते हैं। ज्वालाप्रसाद और जयदेई निश्चय मध्य वग की आस्था के आंशिक रक्षक हैं अपनी कमजोरियो के बावजूद।

उपन्यास लम्बा है बहुत लम्बा यद्यपि तीन पीढी का आधी सदी का जीवन अभिव्यक्त करने वाला उपन्यास लम्बा होकर ही रहेगा। पर नि सन्देह विस्तार की खामियो से भी न बच सकेगा। परिणामस्वरूप भूले बिसरे चित्र के कथानक की गठन मे ढिलाई आ गई है भाषा मे भी चुस्ती नही आ पाई और जसे जसे पाठक आगे की घटनाएँ पढता जाता है पीछे की घटनाएँ वसे वैसे भूलती बिसरती जाती हैं। फिर भी लेखक बधाई का पात्र है समाज का औपन्यासिक इतिहास लिखकर उसने साहित्य को भरा-पूरा है। काश कि उसकी जबान म वह रवानी होती जो शतरंज के मोहरे की जबान म है।

सत्ती मया का चौरा उपन्यास चार भागो म समाप्त हुआ है करीब साढे सात सौ पृष्ठो म लम्बा है। भूले बिसरे चित्र और सत्ती मया का चौरा हिन्दी के आकार म सबसे बडे उपन्यासो म से हैं। इनसे बडा सभवत केवल सेठ गोविन्ददास का इन्दुमती उपन्यास है। यशपाल का उपन्यास झूठा सच सभवत दो भागो म सम्पन्न हुआ है इनम बडा हो सकता है पर मैंने उसे अभी देखा नही है। सत्ती मया का चौरा उपन्यास बडा है पर उसका स्वीप इतना बडा नही है। वस्तुत परिमाण उसका छोटा ही है यद्यपि उसका दशन

उपन्यास के रूप मे वृहद्दर्शक द्वारा होता है। उपन्यास का स्वीप बडा हो सकता है जैसे 'शेखर—एक जीवनी' का है, सोलम ऐश के 'थ्री सिटीज़' का है, जैसे, अनेक बार, 'साइकिल नावेलों' का हुआ करता है। पर साधारणत उपन्यास समाज की लघु स्थिति को बड़ा करके देखता है, जिससे स्थिति की लघुता फैलकर अपने अन्तरग को उद्घाटित कर देती है। भैरवप्रसाद गुप्त ने इसी दृष्टि से अपने उपन्यास 'सत्ती मैया का चौरा' का कलेवर रचा है। साधारण हल्के अपवादो को छोड़ विस्तृत उपन्यास की प्राय. समूची घटनाएँ एक छोटे-से गाँव मे घटती है जहाँ पर तीन-तीन पीढियाँ उठकर सघर्ष करती गुजर जाती है। तीनों पीढियाँ वैसे एक साथ सामने नही आती पर दो का विस्तार निश्चय खुलकर सामने आता है और विगत पहली पीढी नए कौशल से तीसरी पीढ़ी के कथानक मे ढालकर खोल दी जाती है।

विगत को इस प्रकार उद्घाटित करने का यह कौशल गुप्तजी का अपना है, उपन्यास मे सर्वथा नया प्रयोग यह चित्रपट का है जहाँ विगत घटनाएँ दर्शको के लाभ के लिए दृश्यो के माध्यम से उद्घाटित की जाती है। बडे सिद्ध कौशल से उपन्यासकार ने उन घटनाओ का वर्तमान के कथानक मे प्रक्षेपण किया है। साधारणत यह प्रयोग शिथिल हो जाता पर जिस कलावती कुशलता से उपन्यासकार ने कथानक के भीतर कथानक डालकर मृत को सजीव किया है उससे पाठक को कही शैथिल्य का बोध नही होता। इसका कारण विगत घटनाओ का स्वय आकर्षक होना भी है, और यह आकर्षण उन घटनाओ के कर्मठ सघर्ष से प्रादुर्भूत होता है जिससे मृत जीवित हो उठता है। वस्तुत. विगत मृत हो ही नहीं पाता, उसका सिलसिला वर्तमान तक बने रहने के कारण घटनाओ की प्रवहमानता सजीव बनी रहती है।

गाँव के जीवन के ऊपर पहले भी हिन्दी मे बडे जीवन्त उपन्यास लिखे गए है। प्रेमचन्द के उपन्यासों के अतिरिक्त नागार्जुन के 'बलचनमा' और फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'मैला आचल' तथा 'परती परिकथा' गाँव का ही जीवन व्यक्त करते है। रेणु ने तो उपन्यास के वास्तु-विन्यास और भाषा के उपयोग मे एक नया मान, एक नया क्रैफ्ट ही प्रस्तुत कर दिया है। पर गुप्तजी का यह प्रयास भी ग्राम जीवन के सघर्षो का कुछ कम सफल चित्रण नहीं है। वहाँ के जीवन की पकड उपन्यासकार के लिए जैसे हस्तामलक हो गयी है और उसने उसे अनेक पहलुओ से उद्घाटित करने का सजीव प्रयत्न किया है। गाँव के महाजन और चतुर बैठकबाज, हिन्दू और मुसलमान, ज़मीदार और रैयत, कांग्रेसी और कम्युनिस्ट सभी उपन्यास की कथा मे अपना भाग पाते है और भरपूर आस्था से लेखक उनके दैनदिन के उपक्रम अधिकार के साथ अपने उपन्यास मे प्रस्तुत करता है। किस प्रकार सत्ता के मद मे सदा राजनीतिक

दन सत्य वा गान घोर नावना है विग प्रगार गरारी वमचारिया पर भय व माध्यम स अनतिर प्रभाव नार उन्ह ईमानदारी भी गह म भ्रष्ट किया जा गतता है किम प्रकार अपन न्र की गत्ता वगाग रखन म लिए निहित स्वाथ वो सभाल रखा व लिए आस्थावान गामाजिर व्यत्तिया या सात्विक मन्ना वे विरोध म सत्ता और धूला का प्रतियोग गढा कर स्खून तक बवान गिए ता सक्ते है किस प्रकार अनरथा अनगिन नरिया ग गय वा हनन रर वमठ जीवन म कुठा उपन की जा गस्ती है—दन गयरा सविस्तर आख्यान उपयासवार न सत्ती मया व चौरा म किया है।

चरित्र गाव की अपनी लघु और घुटी दुनिया के वातावरण स ऊपर उठकर सत व औदाय का आचरण करत है और छोटे वत्त म ही जनक और यानवत्व की ऊचाइयाँ छू न्ते है। वड मियाँ और वावूगाहब हीरा भगन और रहमान छान पमान पर महान पात्र हैं। मुनी का अत्यत मुरझा हुआ स्वाथ विरत यत्तिव है जा अनक बार अपने प्रकाश स गाँव का आलोकित करता है। मन का यक्तित्व निश्चय डावाडाल सा है अनिश्चित स्थिति क अनुकूल अनक वार अनतिक भी यद्यपि उसका प्रारम्भ बटा है वसे ही उसका परिणाम भी आशासचारी है। उसका वसमतिया मे सम्बध अनावश्यक है और अगर मुनसरी तथा बसमतिया का प्रसग उप यास स निकाल दिया जाय तो उसके कथानक म या उप यास की गठन म कोई अतर नहा पडगा। कलसिया का चरित्र समथ और स्वस्थ होता हुआ भा अनोखा है प्राय असाधारण इतना कि वह अस्वाभाविक सा लगन लगता है। और उसक बड मिया से सम्बध का राज तो कभी खुल ही नही पाता। जुगली मिया का परिष्कार जमाने की सचाई और परिस्थितियो की ईमानदारी के परिणाम का स्वरूप है। लगता है जस कुधातु सयोग से आग से तपकर सोना हो गई हा। महशर मन की बीवी साधारण गृहस्थ नारी है अपनी इच्छाओ से वमजार। पर उसका सम्बध मुनी के साथ मुह म एक अजीब स्वाथ भर लाता है। समझ म नही आता गहरी रात के अधियारे म पाखरे के निजन म मुनी के साथ उसका एका तवास मुनी के साने पर उसका सिर रख देना मुनी का उसकी पीठ सहलाने लगना महशर का मुनी की उगलियाँ अपने होठो पर रख लेना और एम बीच अवन्नब आकर मन्ने का मुनी स वाडी माग ले जाना थाडी दूर पर अकेले बठे उस फूकते जाना किस भाव का यक्त करता है समझ म नहा आता। न तो इस स्थिति की उपयास म ऐसी आवश्यकता था और न उसका परिणाम विशेष कोइ स्वस्थ स्थिति ही प्रस्तुत की गई। इसक विपरीत सभावनाएँ दूसरी भी हो सकती थी कम-स कम जिनका निराकरण कर देना उपयासकार न मुनासिब नहा समझा।

उपन्यास की भाषा शक्तिमती है, भारी-भरकम भावो के वोध को उठाने मे सर्वथा समर्थ। ग्रामीण शब्दो का भी अनेक वार अनेकधा बहुलता से प्रयोग हुआ है जो कुछ अजव नही पश्चिमी हिन्दी भाषियो की समझ के लिए कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न करे। लोकभाषा नि सदेह भावो को वडी आसानी से अभिव्यक्त कर देती है, उसके अनेक शब्द स्थिति को स्पष्ट करने मे वडे समर्थ सिद्ध होते है, परन्तु उनका उपयोग वडे सयम से होना चाहिए। इस प्रयोग का विशेष समारभ 'रेणु' ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'मैला आँचल' मे किया है, और लगता है वह परिपाटी चल जाएगी, चल गई है, पर रेणु की सफलता सबको न मिल सकी, वर्तमान उपन्यासकार को भी नही।

उपन्यास सफल है और जहाँ तक मुझे ज्ञात है इतने निकट तक सामाजिक-राजनीतिक जीवन को अभिव्यक्त करनेवाला उपन्यास हिन्दी मे दूसरा नही लिखा गया है। उपन्यासकार वधाई का पात्र है।

१०

वोल्गा से गगा

वाल्गा स गगा श्री राहल्जी की अनक वृतिया म मे एक है और इसकी ख्याति भी खूब हुई है। राहुलजी विद्वान है वहुमुखी प्रतिभा के विचार म अ-य-त कम सख्या ऐसा की हागी जो उनकी कोटि म गिने जा सकें और उनके प्रारम्भिक अध्ययन की असुविधाओ का खयाल करके तो यह कहना ही पडेगा कि उस पृष्ठभमि के साथ शायद व अकेले हैं। प्रतिभाशाली विद्वान हाने के अतिरिक्त जो इमस भी बडी बात उनम है वह है उनकी प्रगतिशीलता और क्रान्तितत्परता। सवा का उनम असाधारण लगन है और उसके लिए उनम शक्ति और क्षमता भी है। इधर अनक ग्रन्थ उ-होन सवाभाव और क्राति के विचार स लिख हं। व उनका लिखन के वास्तविक अधिकारी तो न थ परन्तु चूकि अधिकारी व्यक्तिया की अपनी दुबलता अथवा उदासीनता म उस ओर कलम न उठान क कारण उ-होन स्वय उन्हे लिखा जो कुछ आक्षेप उनक ऊपर हुए है वे भद्द है।

किन्तु इसी कारण उनक य ग्र थ अनधिकार चेष्टा के ज्वल-त प्रमाण भी बन गये हैं—इसे हम स्वीकार करना होगा। डर यह होता है कि जिस गति से श्री राहुलजी आज चल रह है उसी से यदि चलत रहे तो नि स-देह उनके इस प्रकार के ग्र-थो की सख्या इतनी बढ जायगी कि उनके सत्प्रयत्न भी धुधले हो जायेंगे। इसी विचार स मैं उनकी वाल्गा से गगा पर आज कुछ लिखन चला हूँ। यहाँ इतना लिख देना उचित होगा कि इस लेख का म-त-य इस सग्रह के *ऐतिह्य पर प्रकाश डालना ह। श्री राहुलजी स्वय जानते हैं कि श्रद्धालु न* होता हुआ भी मैं उ-हे किस आदर स देखता हूँ। वसे बीस वर्षों का सम्ब-ध तो रहा ही ह।

मेरे सामने वाल्गा से गगा का द्वितीय सस्करण ह। प्रथम सस्करण के 'प्राक्कथन म कहानीकार न लिखा है— मैंने हर एक काल के समाज को प्रामाणिक तौर स चित्रित करने की कोशिश की है कि-तु ऐसे प्राथमिक प्रयत्न

मे गलतियाँ होना स्वाभाविक है। यदि मेरे प्रयत्न ने आगे के लेखको को, ज्यादा शुद्ध चित्रण करने मे सहायता की, तो मै अपने को कृतकार्य समझूंगा।" मैंने जिस समय पहले-पहल इस प्राक्कथन को पढ़ा तो मुझमे प्रतिक्रिया की भावना जगी, परन्तु उसे अनुचित समझ मैंने दबा दिया और आज तीन वर्ष बाद सत्य के नाते कुछ लिखने बैठा। मुझे दुःख हुआ था उनके 'प्राक्कथन' के 'प्राथमिक-प्रयत्न' वक्तव्य पर। इस प्रकार पहला प्रयत्न श्री राहुलजी से लगभग तीन वर्ष पूर्व मैंने किया था। सन् १९३९ मे मैंने अपनी 'मानव-तरंगिणी' का सूत्रपात किया जिसका पहला तरंग 'सवेरा'—मार्च १९४० मे और क्रमश दूसरा और तीसरा—'संघर्ष' ओर 'गर्जन'—मई १९४१ मे सरस्वती-मन्दिर, जतनबर, काशी से प्रकाशित हुए। मैंने 'सवेरा' के अपने 'वक्तव्य' मे लिखा—"लेखक का विचार भारतीय संस्कृति पर कहानियो की सीरिज लिखने का है। यह सीरिज दस भागों मे समाप्त होगी। प्रस्तुत संग्रह उसका प्रथम भाग है जिसका काल मानव-जाति के शैशव से ऋग्वेद तक है।" जनवरी सन् १९४२ मे पुस्तक की समालोचना करते हुए 'माडर्न रिव्यू' ने लिखा—

"This is the first volume of a series of historical stories, which the author has planned out for the purpose of giving a picture of the civilization and culture of India from the pre-vedic times to the present day The collection of ten tales, under review, centres round the social life in the country from its dim beginnings to the Rigvedic era The first story, for instance, deals with the Matriarchal State in history, the second with the Patriarchal State, the third with the life of the pre-Aryan dwellers in the land, and so on Each story is illuminated with poetic imagination which has made every vision of the past vivid, but is founded on historical fact The happy blending of "fancy" and fact has enabled the writer to report about the events and influences of bygone days in the spirit and style of an eyewitness 'Sabera' is a sociological study, in story form, of the dawn of human civilization As such, it and its successors in the series will render the reading of history 'without tears' possible for the Hindi knowing public *To the knowledge of the reviewer, Shri Bhagwat Sharan has struck out a new path in the field of Hindi literature The ground covered by him is virgin, but he has*

trodden it with the courage of a pioneer eye of a poet insight of a philosopher and heart of a lover of the evolving and aspiring man

इस आलोचना को देखते हुए यह समझना कठिन है कि श्री राहुलजी ने अपने प्रयास को 'प्राथमिक' क्या लिखा जब कि अपनी पुस्तक के प्रकाशित होने के लगभग दो वर्ष पूर्व वे स्वयं सवेरा की सराहना कर चुके थे। यह तो उचित हो सकता था कि वे मेरी पुस्तक को अनुचित और गलत कहते परन्तु उनका हवाला न देकर नितान्त चुप्पी साध लेना और तद्वत् अपने प्रयास को प्राथमिक कहना अवश्य आज के वैज्ञानिक साहित्य निर्माण और शोध अनुसन्धान की स्पिरिट के विरुद्ध है। इसका नतीजा यह हुआ कि जिन जिन ने वोल्गा से गंगा की प्रशंसा तथा आलोचना की है प्राय सभी ने उसे प्राथमिक प्रयास कहा है। माधुरी के एक अङ्क में दो सज्जनों (श्रीवास्तव और गंगाप्रसाद मिश्र) ने मेरे सवेरा संघर्ष और श्री राहुलजी की वोल्गा से गंगा पर एक एक लेख लिखा। दोनों ने उनकी कृति को मेरी से पूर्व बनाया। उन महानुभावों ने इतना भी कष्ट न किया कि दोनों संग्रहों पर छपी सन् तिथियों को तो देख लें। वास्तव में इस प्राथमिक प्रयास का व्यंग्य और भी चोट करता है जब तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि सवेरा की पहली दो कहानियाँ 'वोल्गा से गंगा' में नये परिधान में लिपटी वर्तमान है। अस्तु।

अब वोल्गा से गंगा। दूसरे संस्करण में परिशिष्ट के रूप में इस पुस्तक पर भदन्त आनन्द कौसल्यायन की एक प्रशंसा छपी है। भदन्तजी लिखते हैं— मेरी आलोचना थी कि कई कहानियाँ कहानियाँ कम और इतिहास अधिक है। सचमुच कुछ कहानियाँ मुझे ज्ञान के बोझ से दबी सी लगी—कहानी होनी चाहिए हल्की फुल्की। मुझे डर है कि हमारे प्राचीन ग्रन्थ और उनके रचयिता ऋषि महर्षि ही राहुलजी की गवाही दे रहे हैं—जर¹ ठीक तो कहता है। सत्य से बढ़कर धर्म नहीं। भदन्तजी से मैं सहमत हूँ जहाँ तक उन्होंने इस पुस्तक के सम्बन्ध में कहानी कला सम्बन्धी वक्तव्य किया है। परन्तु कहानियों के ज्ञान का बोझ' मुझे काफी खटकता है। शब्दों की सत्यता उनमें हो सकती है पर यथार्थ रूप में स्पिरिट में कहाँ तक उनमें सत्यता है इसका हम नीचे विचार करेंगे। माना कि वे सब बातें थीं परन्तु उनको यथास्थान न रखकर उनकी परोसी कर देना सत्य की उपासना शायद ही कहीं समझी जाय। शरीर में नाक आँखें कान हाथ सभी कुछ है पर लगा दीजिए नाक को नाभि पर आँखों को घुटनों पर कानों को हाथों पर हाथों को पद-पीठ पर और कहिए कि यथार्थ है वे शरीर के अंग। हैं शरीर के अंग व निश्चय परन्तु जहाँ उन्हें रखकर आप शरीर को शरीर कहते हैं शरीर जो कभी था अब नहीं

रहा। भदन्तजी कही मुझे अतीतवादी न समझ बैठे इसका मुझे डर है। मै अतीत-गौरव-गान का अनन्य विरोधी हूँ और वास्तव मे तो मै भारत के अतीत को गौरवशाली केवल अशत मानता हूँ। परन्तु सत्य का खोजी होने के नाते इतना अवश्य कहूँगा कि भारत का जो चित्र राहुलजी ने खीचा है वह गलत है। भारत बुरा शायद उससे कही अधिक रहा हो जितना उन्होने उसको चित्रित किया है परन्तु जो चित्र उन्होने खीचा है उसका रंग, रेखा-रेखा दूषित है, गलत।

पहले हम 'वोल्गा से गगा' के ऐतिह्य पर ही विचार करेगे। 'पुरुधान' और 'अगिरा' नाम की पाँचवी और छठी कहानियो मे असुर जाति का वर्णन है। यह असुर जाति कौनसी है इसका निर्णय राहुलजी नही कर सके है। दो नितान्त विभिन्न जातियो को आपने मिलाकर एक कर दिया है, एक के शरीर पर दूसरे का बाना पहनाया है। इन दोनो जातियो मे एक तो असीरिया के असुर है, दूसरे सिन्धु-काँठे मे बसने वाले द्रविड। इन दोनो के शरीर और चरित्र, सस्कृति और निवास-स्थान की ऐसी खिचडी की गई है कि पुरातत्ववेत्ता को भी उनको यथास्थान करने मे साधारण कठिनाई न होगी। स्वात और कुभा (कावुल) नदियो के सगम पर असुर नगर बसे हुए है। उनके नगर सुन्दर है। 'उनमे पक्की ईंटो के मकान, पानी बहने की मोरियाँ, स्नानागार, सडके, तालाब आदि होते थे (पृष्ठ ७६)।·· एक परिवार के रहने लायक घर को ही लीजिए। इसमे सजे हुए एक या दो बैठकखाने, धूमनेत्रक (चिमनी) के साथ अलग रसोईघर, आँगन मे ईंट का कुआँ, स्नानागार, शयनागार, कोष्ठागार। साधारण बनियो के घरो को मैने दो-दो, तीन-तीन तल के देखे है। क्या बखान करूँ, असुरपुर की उपमा मैं सिर्फ देवपुर से ही दे सकता हूँ (पृ० ८५)।' नि सदेह निर्देश मन्टगुमरी (पजाब) जिले के हडप्पा, लरकाना (सिन्ध) जिले के मोहनजोदडो और कलात (बलोचिस्तान) के नाल आदि स्थानो की प्राचीन द्राविड सभ्यता के प्रति है। ये 'असुर आम तौर से कद मे छोटे होते है (पृ० ८३)।·· लोग नाटे-नाटे होते है, रग ताँबे-जैसा। बडे कुरूप। नाक तो मालूम होता है, है ही नही—बहुत चिपटी-चिपटी, भोडी-भोडी' (पृ० ७१)। 'वे कपास की रूई का कता-बुना कपडा पहनते है (पृ० ७१, ९३)। शिश्न और उपस्थ को पूजते है (पृ० ८४, ८७, ९३), शक्ति, गदा धारण करते है (पृ० ८७)।'

यह चित्र सैन्धव सभ्यता का है परन्तु जो चित्र आपने उनका अन्य सम्बन्ध मे खीचा है वह उनका नही हो सकता। असुरो को आपने हजारो दास-दासी रखने और खरीदने-बेचने वाला कहा है (पृ० ७२, ७७, ८०, ८६)। इसी प्रकार उनमे वेश्या-प्रथा का प्रचार (पृ० ७७), उनके राजा का देवतुल्य और

निरकुश शासक (पृ० ७७ ८४ ८६, ६८) तथा पुरोहित का दुविनीत और लोलुप होना (प० ८७ ८८ ६४) आदि कहा गया है। उसे चिकित्सा म दग होन की बात (प० ६२) भी साधारणतया स्वीकृत कर ली गई है। राजा और पुरोहित का ता आर्यों म भी उन्ही स आना कहा गया है। गारो सधव सभ्यता म सिवा एक नतकी की मूर्ति के अन्य कोई प्रमाण इस सबध म नहा मिलता। और वह स्वय इस बात को कभी सिद्ध नहीं करता कि असुरा म वेश्या का प्रचार था (बाबुलिया म था असुरा म नहा था)। नतकी का वश्या नहीं कहा जा सकता। वसे तो स्वय ऋग्वद म स्तना को खोले हुए नतका (अधि पेशासि वपते नतूरिवापोर्णुते वश उसव्व बजहम। १ ६२ ४) का जिक्र है परन्तु इससे आर्यों म वेश्या प्रथा का होना ता नहा कहा जा सकता। इसी प्रकार ऋग्वदिक आर्यों म राज प्रथा पूणतया प्रतिष्ठित हो चुकी थी जसा राजाओ की अनेक पीढ़िया स ज्ञात है। हरिश्चन्द्र स्वनय भाव्य वध्राश्व पुरुकुत्स त्रसदस्यु दिवादास शुनास रथवीति आदि पारम्परिक राजशृखला प्रस्तुत करते है जिनम स कुछ ता ऋग्वदिक काल म भी अत्यन्त प्राचीन कहलाय। यही बात ऋग्वेद के पुरोहित वग के विषय म भी कही जा सकती है। प्राचीन से प्राचीन काल म भी आर्यों मे पुरोहिताई मौजूद थी। सारे ऋग्वेद के ऋषि पुरोहित हैं व चाहे ब्राह्मण रह हो या नही। यह स्वीकार किया जा सकता है कि ब्राह्मण क्षत्रिय वग अधिकतर ऋग्वेद क पिछले अयात अपक्षाकृत आधुनिक मन्त्रकाल म बने परन्तु पुरोहित जो दोना वर्गों के होत आय थ (क्षत्रिय भी जसे विश्वामित्र और देवापि) तो प्राथमिक वद के प्राचीनतम मन्त्रकाल म भी थे। भरद्वाज आदि सारे ऋग्वेदकार मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं और उस वेद का धम सिवा यज्ञपरक होने के और कुछ नही है। यज्ञो म पुरोहित का होना अनिवाय है इससे उसका आर्यों म असुरो (सन्धव द्रविड) स आना नितान्त असत्य है। इसके विरुद्ध राजा पुरोहित वेश्या दास दासी चिकित्सा आदि का कही भी सन्धव पुरातत्व के स्तरो म सकेत तक नहा मिलता। विद्वान लेखक स यह भद्दी भूल क्योंकर हो गयी यह आसानी से बताया जा सकता है। जिन ऊपर निर्दिष्ट बाता का स धव-सभ्यता म अभाव दिखाया गया है व असुर जाति म मिलती है और पूणतया परन्तु वह असुर जाति भारतीय नहीं इराकी है। यदि डा० वूली द्वारा प्राचीन असीरिया की खोज निराली सभ्यता का ब्योरा श्री राहुलजी न पढा होता तो निस्सन्देह व ऐसी गलती न करते। वूली न मध्य पूव की अपनी अदभुत खुदाई का विवरण अनेक ग्रथा म प्रकाशित किया है। असुरा के सुविस्तत नगर अशर और उनके प्रमुख देवता अशुर का जो हवाला इस खुदाई म मिला है उसन एक अपूव दश खडा कर दिया है। राजाओ की अनक परम्परा पुस्तकालय म

पुस्तकालय पट्टियों पर खुदे हुए मिले है जिनसे असुरो का वहाँ होना सिद्ध हो गया है। चूँकि उनकी जीवित सभ्यता के बीच से होकर आर्य लोग भारत आये-थे, उनका उनसे संघर्ष होना अनिवार्य था। परन्तु उनकी शक्ति की छाप जो आर्यों की पीठ पर लगी उससे वे इनकार नही कर सकते थे। इसी कारण उनके मरणान्तक शत्रु होते हुए भी उन्होने उनके पराक्रम की सराहना की। यहाँ तक कि अपने देवता वरुण का विशेषण तक उन्होने 'असुर' शब्द से बनाया। ऋग्वेद के प्राचीनतम ग्यारह मन्त्रो मे आर्यो के उस प्राचीनतम देवराज वरुण का जहाँ-जहाँ निर्देश हुआ है वहाँ-वहाँ वह 'असुर' अथवा 'असुर महान्' ('अहुरमज्द') शब्द से विशिष्ट किया गया है। जादू तो वह जो सिर पर चढकर बोले। असुरो की शक्ति की छाप इतनी गहरी आर्यो पर लगी थी कि पराक्रम के वे प्रतीक हो गये और भारत मे भी जब-जब उनका शक्तिपूर्ण मुकाबला हुआ, अपने शत्रुओ को उन्होने 'असुर' संज्ञा प्रदान की। परन्तु इससे सैन्धव-सभ्यता के द्रविडो को असुर कहना इतिहास को उलट देना होगा। श्री राहुलजी की इसी भूल ने उन्हे अज्ञान के गर्त मे धकेल दिया है जिससे उन्हे असुरो की दशा का भ्रम हो गया है। इस भ्रम मे उन्होने असुरो के सारे कृत्य, सारे आचार-विचार द्रविडो को दे दिये है और इतिहास का गला घुट गया है। अरमनी (अरमीनिया) से मिस्र तक, दानूब मे बलख तक की समस्त भूमि पर बाबुलियो के बाद असुरो का साम्राज्य फैला था जिसकी समय-समय पर कालक्रम से तीन-तीन राजधानियाँ—असुर, कला और निनेवे—बनी। इनकी खुदाइयो से सहस्रो प्रशस्तियाँ और अभिलेख प्राप्त हुए है।

सारे पुरातत्वपरक प्रमाणो के विरुद्ध सिन्धुतट की इस द्रविड-सभ्यता को श्री राहुलजी ने असुरी तो माना ही, उसको ही दास-दासी-प्रथा का प्रवर्तक भी मान लिया। ऊपर कहा जा चुका है कि दास-दासियो के सम्बन्ध मे सैन्धव सभ्यता मे कोई चिन्ह नही मिलता, उलटे ऋग्वेद मे उनकी संख्या का अन्त नही था। राजा पुरोहितो को रथ भर-भरकर दास-दासी दान करते है (ऋग्वेद, १, १२६, ३, ५, ४७, ६, २७, ८; ८, १९, ३६; ८, ३९, १७)। ऐसी हालत मे सैन्धवो का आर्यो को दास-प्रथा सिखाने की बात कहना कितना भ्रमपूर्ण है।

एक और बडा दोष इस असुर-पहेली के सम्बन्ध मे श्री राहुलजी ने खडा किया है। वे इस सैन्धव (असुर) सभ्यता को आर्यो का समकालीन मानते है, साथ ही उस सभ्यता का आर्यो द्वारा विध्वस ही 'पुरुधान' और 'अंगिरा' नामक दोनो कहानियो का विषय है। इस समकालीनता को स्वीकार करने मे मुझे कोई आपत्ति नही है। यदि आर्यो ने सैन्धव सभ्यता नष्ट की तो अवश्य

यह सघप आर्यों के आगमन के आरम्भ म ही हुआ होगा और उनके भग्नावशेष पर ही उन्होंने अपने गाँव के बल्ले गाड होंगे। अथात उस हालत में स धव सभ्यता का केवल अ तिम स्तर आय सभ्यता के प्रारभिक स्तर का समकालीन हो सकता। परन्तु ऐसा न मानने म थी राहुलजी की एक भूल और सामने आ जाती है। आपने इन दोनो कहानियों का घटना काल क्रमश २००० ई० पू० और १८०० ई० पू० माना है। इस गणना से आर्यों का प्रथमागमन लगभग २००० ई० पू० के हुआ। परन्तु विद्वानो (सर जान माशल, मक दीक्षित वस आदि) के अनुसार स धव सभ्यता का जीवनकाल ३२५० ई० पू० स २७५० ई० पू० तक है। इस प्रकार आर्यों के भारत म आगमन से लगभग ७५० वष पूव ही सधव सभ्यता नष्ट हो चुकी थी शायद किसी अय शक्ति द्वारा। फिर तो कालगणना के दोष स इन कहानियों का सघष विषय ही दूषित हो गया।

एक सिद्धात है कि आर्यों का इन्द्र कभी प्राचीन काल म मानव रहा होगा। परन्तु जो इस सिद्धान्त को मानते हैं उनका कहना है कि इस प्रकार मानव के देवत्व प्राप्त करने म एक समय साप होता है जिसका विस्तार प्रचुर होना चाहिए। जब उस मानव की मृत्यु के बाद इतना समय बीता जाता है कि उसके महान कम मानवेतर समझे जाने लगें तब उसके नाम को रहस्यमय प्रभामण्डल ढक लेता है और वह देवतुल्य जान पडने लगता है। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह मानव अनुपम हो। यदि उसके सम अय भी हुए तब उसकी अनुपमयता नष्ट हो जायगी और वह अमानव नहीं हो सकेगा। श्री राहुलजी के इन्द्र मानव हैं (पृ० ६६ ७८ ८१ ८२ ८३ ८४ ६४) नये और पुराने हैं (पृ० ७४)। ऐसा इन्द्र जन द्वारा चुना एक वीर योद्धा मात्र है (पृ० ६४) जो आरम्भ म युद्ध चलाने के लिए सेनापति चुना जाकर इन्द्र की उपाधि पाता है (पृ० ९६) और जिसको पद बनाया और तोडा जा सकता है (पृ० ८२)। फिर भी आश्चय है किस प्रकार एस इन्द्र की दवी महिमा (पृ०८२) प्राप्त हो जाती है और किसान इन्द्र को पानी बरसाने के लिए प्राथना पर प्राथना करते हैं (पृ० ८१)। यदि सचमुच ही मानव इन्द्रों की परम्परा है तो क्या वे देवता की भाँति पूजे जा सकते हैं? बाग्स के प्रसिद्ध जिनकी एक परम्परा है, इस देश म मिलते-जुलते हैं। किन्तु क्या वे पूजे जाते हैं पूजे जा सकते हैं? आदर के भाव देव-पूजा म भिन्न होते हैं। फिर इन इन्द्रों की कम-सम्बन्ध इन कहानियों म प्राचीनता भी तो सिद्ध नहीं होती। वे तो कल्पनाओं म पारम्परिक होते हुए भी मानव और देवता हैं। दोनों कहानियों 'पुरुधान' और अंगिरा म अन्तर कवल २०० वर्षों का है। फिर क्या इस बीच इन्द्र को देवत्व प्राप्त करने के लिए काफी है? फिर ऋग्वेद के साथ इतना—

प्राचीनतम और निकटतम—मे इन्द्र देवता की भाँति व्यवहृत हुआ है। यदि इन्द्र को मानव मान भी ले तो यह आवश्यक है कि वह देवता मानने वालो के सपर्क मे मानव (अर्थात् उनके-से रूप मे न आये। उसकी केवल धुँधली स्मृति-सी रहे। इससे इन कहानियो मे इन्द्र का यह रूप ऐतिहासिक कल्पना के विरुद्ध है और कालविरुद्धदूपण का एक उदाहरण उपस्थित करता है।

श्री राहुलजी के लेखो मे 'गोमास' अथवा गोवत्स के मास' का प्रचुर उल्लेख रहता है। सीधे-उल्टे किसी-न-किसी द्वार से यह उनमे प्रविष्ट हो ही जाता है। वास्तव मे गोमास खाने या न खाने दोनो ही मे कुछ विशेपता नही है। साधारणतया गोमास ऐसा सस्ता और जायके के ख़याल से नगण्य है कि अच्छा खाने वाला उसकी कामना नही करता। और गोश्त गोश्त मे ज़ायके अथवा जानवर की उपादेयता के ख़याल से अन्तर हो ही जाता है। आर्य लोग भारत मे आने से पूर्व यदि खेती करते थे तो सभवत यूरोपीयो की भाँति घोडो से। अधिक सभव तो यह है कि उन्होने खेती यही सीखी, सैन्धवो के सम्पर्क से, यद्यपि यह वात जोर देकर नही कही जा सकती, क्योकि कृपिकर्म प्रारम्भिक रूप से उत्तर-पापाण-काल मे ही शुरू हो गया था। सैन्धवो मे घोडो का नही, वैलो और साडो का प्रयोग होता था। सभव है, आर्यो ने भी यहाँ आकर कृपि मे इनका ही प्रयोग आरम्भ कर दिया हो। उस हालत मे गोधन के लिए विशेप अनुराग अनुचित न रहा होगा। वैसे वे अवश्य गोमास और गोवत्स-मास खाते थे, मोटे-किए वछडो को अतिथि के लिए मारते थे। परन्तु जैसे-जैसे कृपि की प्रधानता वढी, गोधन भी उनके लिए विशिप्ट होता गया। उन्होने गाय को 'अघ्न्या' माना और उसकी 'अदिति' से उपमा दे उसकी हत्या रोकी (ऋग्वेद—माता वसूना स्वसादित्याना मा गा अनागा अदिर्ति वधिष्ठ) जैसे-जैसे आर्यो के कृपि-क्षेत्र का विस्तार हुआ, गाय के प्रति उनकी श्रद्धा भी वढी। गुप्तकाल मे सुपर्ण का गोमास के लिए रोना भयकर पेटूपन का उदाहरण है। उसका हाल कहानी के उस कौए का है जो स्वर्ग मे भी अखाद्य ढूँढता है। एक से एक स्वादिप्ट मास के रहते नगण्य गोमास के लिए 'रकटना' निश्चय अद्भुत भूख-मनोवृत्ति का परिचायक हे।

श्री राहुलजी अन्य ऐतिहासिको की ही भाँति प्राचीन आर्यो मे वर्ण-व्यवरथा नही मानते। 'अगिरा' के वाद वाली (तीन सौ वर्प वाद) 'सुदास' कहानी मे वे कहते है—'किन्तु, क्या जाने, आगे चलकर क्षत्रिय, व्राह्मण दो अलग वल, दो श्रेणियाँ, वन जायें' (पृप्ठ ११४)। और यहाँ भी आगे वन जाने का डर है। अर्थात् १५०० ई० पू० या, यदि आगे की भावना को दृप्टि मे रखते समय माप सके तो, १२०० ई० पू० के लगभग वर्ण-व्यवस्था वनी अथवा व्राह्मण, क्षत्रिय पृथक् हुए। फिर आप इस काल से लगभग ६००

पूर्व के कथानक अगिरा (१८०० ई० पू०) में वणसंकरता' (पृ० ६३) का उल्लेख क्या करते हैं यह समझ में नहीं आता। तक्षशिला के गणराज्य की बात नागदत्त में कही गया है। गन्धार अगुत्तरनिकाय के 'षोडश महाजनपदों' में राजतन्त्र माना गया है। बाद में भी सिकन्दर के आक्रमण के समय (३२६ ई० पू०) तक्षशिला राजतन्त्र है जहा की पारम्परिक राजशृंखला का ग्रीक और रोमक ऐतिहासिकों ने उल्लेख किया है। उनके अनुसार तक्षशिला के राजा उस काल में तक्षशील और उसके बाद उसका पुत्र अम्भी हुए।

ग्यारहवीं कहानी प्रभा ने कहानी के रूप में अच्छी ख्याति पायी है (परिशिष्ट पृ० ३८५ भदन्त कौसल्यायन)। जरा इसका खुलासा सुनिए। कहानी के आरम्भ के दो पृष्ठों में १८५ ई० पू० से प्रथम शती ईस्वी तक का एक विवरण दिया गया है। यह किधर से प्रभा कहानी का भाग हो सकता है समझ में नहीं आता। यह भाग नीरस तो है ही (यद्यपि नीरसता का उल्लेख शायद ही उचित समझा जाय क्योंकि उस दृष्टि से देखने से पुस्तक भर में कदाचित ही कोई सरस स्थल मिल सके) इसकी सार्थकता किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती। इसे तो कहानी की प्रस्तावना के रूप में देना था। फिर भी इसके ऐतिह्य पर क्षण भर दृष्टिपात करें। एक वक्तव्य इस प्रकार है— वाल्मीकि ने अयोध्या नाम का प्रचार किया जब उन्होंने अपनी रामायण को पुष्यमित्र या उसके शुगवश के शासनकाल में लिखा। इसमें तो शक ही नहीं कि अश्वघोष ने वाल्मीकि के मधुर काव्य का रसास्वादन किया था। कोई ताज्जुब नहीं यदि वाल्मीकि शुगवश के आश्रित कवि रहे हों जैसे कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के थे और शुगवश की राजधानी की महिमा को बखान ही के लिए उन्होंने जातकों के दशरथ की राजधानी वाराणसी से बदलकर साकेत *या अयोध्या कर दी और राम के रूप में शुग सम्राट पुष्यमित्र या अग्निमित्र* की प्रशंसा की—बस ही जैसे कालिदास ने रघुवंश के रघु और कुमारसम्भव के नाम से पिता-पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त की। इस वक्तव्य की असाहित्यिक शुष्कता पर बगैर विचार किये मैं सीधा इसके ऐतिह्य पर आता हूँ।

यह तो कहा जा सकता है कहा गया है कि रामायण शुग-काल में समाप्त की गयी अथवा लिखा गया परन्तु यह कहना कि वाल्मीकि ने इस रामायण को शुग काल में लिखा ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त अशुद्ध होगा। ऐसा कहने का तात्पर्य होगा कि वाल्मीकि शुगकालीन थे। यह गलत होगा उसी प्रकार जैसे कोई शुगकालीन मनुस्मृति को तत्कालीन कहकर भी मनु को तत्सामयिक नहीं कह सकता। इन दोनों बातों में जमीन-आसमान का अन्तर है जिसे वैज्ञानिक इतिहासकार पूर्णतया समझता है। वाल्मीकि राम के समकालीन थे राम चाहे

जव हुए हो—सभवत १९वी सदी ई० पू० मे या कुछ वाद, जव ऋग्वेद के निर्माण का मध्यकाल था। परन्तु रामायण की भाषा काव्यकालीन, 'क्लासिकल' होने के कारण ऋग्वेद-कालीन तो नही हो सकती ? उसी प्रकार जैसे काव्य-कालीन 'मनुस्मृति' उस मनु की नहीं हो सकती जो ऐक्ष्वाकुओ के आदि पुरुष थे। वाल्मीकि उस प्रवन्ध-कथानक के आदि कर्त्ता थे परन्तु रामायण-काव्य का रचयिता शुगकालीन कोई और व्यक्ति था जिसने उस काव्य की प्राचीनता, प्रामाणिकता अथवा पावनता घोषित करने के लिए उसे 'वाल्मीकीय' कहा। इसी प्रकार मानव-पद्धति को लिपिवद्ध कर उसे प्रचारित करने के कारण ही शुगकालीन 'मनुस्मृति' की ऐसी सज्ञा हुई। इससे मनु के वाल्मीकि की भाँति शुग राजाओ के दरवारी होने की वात नही कही जा सकती। उस पद्धति को 'इति मनु' कहने की परिपाटी मनु की समसामयिकता नही केवल उस नाम से सम्वद्ध काव्यवद्ध 'स्मृति' की तत्कालीनता सिद्ध करती है। वाल्मीकि को 'शुगवश का आश्रित कवि' कहना इतिहास की वैज्ञानिक सूक्ष्मता का वलिदान कर देना है। फिर इस वक्तव्य मे श्री राहुलजी ने जो कालिदास को चन्द्रगुप्त और कुमारगुप्त की समकालीनता से वाल्मीकि की शुगकालीनता की उपमा दी है वह 'अन्योन्याश्रयदोष' का एक ज्वलन्त उदाहरण है। मै स्वय कवि कालिदास को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त का समकालीन मानता हूँ। हिन्दी-अग्रेजी मे इस समकालीनता को प्रतिष्ठित करने मे शायद मैने ही सवसे अधिक समय और स्याही व्यय की है परन्तु प्रमाणो और मनोवृत्ति दोनो से उस महाकवि को गुप्तकालीन मानकर भी मुझे मानना पडा है कि यह "रघुवश के रघु और 'कुमारसभव' के कुमार" की ध्वनि पर उनकी समकालीनता स्थापित करने वाला प्रमाण अत्यन्त दुर्वल है। अन्य अनेक और प्रवल प्रमाण इस निष्कर्ष को शक्ति प्रदान करते है परन्तु यह ध्वन्यात्मक प्रमाण स्वय अपने-आप कोई पक्ष निर्धारित नही करता। इससे इस तुलना से वाल्मीकि की शुगकालीन व्याख्या अत्यन्त कमजोर पड जाती है। फिर जव आप जातको (दशरथ-जातक, प्रमाणत) का हवाला देते है तव इस वात को स्पष्टतया भूल जाते है कि उनमे और भी कुछ वाते है जो और पहेलियाँ खडी करती है—जैसे सीता का राम की वहिन होना। रामकालीन वाल्मीकि को उसे वदलने की आवश्यकता नही पड़ती क्योकि तत्कालीन राजाओ मे भाई-वहिन मे विवाह एक साधारण वात थी। मैने स्वय पुराणो से रामकालीन (कुछ आगे-पीछे) राजाओ मे इस प्रकार के लगभग २६ उदाहरण ढूँढ निकाले थे (देखिए मेरी Woman in Rig-Veda)। खैर, इतना कह देना काफी होगा कि यह वाल्मीकि को शुगकालीन समझने वाला इतिहास-विवेक अपुष्ट है यद्यपि 'रामायण' को तत्कालीन माना जा सकता है।

पूर्व के कथानक अर्थात (१८०० ई० पू०) में वर्णकरता (पृ० ६) का उल्लेख क्यों करते हैं यह समझ में नहीं आता। तक्षशिला के गणराज्य की बात सागरदत्त में कही गयी है। गन्धार अगुत्तरनिकाय के षोडश महाजनपदों में राजतंत्र माना गया है। बाद में भी सिकन्दर के आक्रमण के समय (३२६ ई० पू०) तक्षशिला राजतंत्र है जहाँ की पारस्परिक राजपद्धति का ग्रीक और रोमक ऐतिहासिकों ने उल्लेख किया है। उनके अनुसार तक्षशिला के राजा उस काल में नृपशील और उसके बाद उसका पुत्र आम्भी हुआ।

ग्यारहवीं कहानी प्रभा ने कहानी के रूप में अच्छी ख्याति पायी है (परिशिष्ट, पृ० ३८५ भदन्त कौशल्यायन)। जरा इसका रचयिता मुनिए। कहानी के आरम्भ के दो पृष्ठों में १८८ ई० पू० से प्रथम शती ईस्वी तक का एक विवरण दिया गया है। यह किधर से प्रभा कहानी का भाग हो सकता है समझ में नहीं आता। यह भाग नीरस तो है ही (यद्यपि नीरसता का उल्लेख शायद ही उचित समझा जाय क्योंकि उस दृष्टि से देखने से पुस्तक भर में कदाचित ही कोई सरस स्थल मिल सके) इसकी सार्थकता किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती। इस तो कहानी का प्रस्तावना के रूप में देना था। फिर भी इसके ऐतिह्य पर क्षण भर दृष्टिपात करें। एक वक्तव्य इस प्रकार है— वाल्मीकि ने अयोध्या नाम का प्रचार किया जब उन्होंने अपनी रामायण को पुष्यमित्र या उसके शुंगवंश के शासनकाल में लिखा। इसमें तो शक ही नहीं कि अश्वघोष ने वाल्मीकि के मधुर काव्य का रसास्वादन किया था। कोई ताज्जुब नहीं यदि वाल्मीकि शुंगवंश के आश्रित कवि रहे हों जैसे कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के थे और शुंगवंश की राजधानी की महिमा को बढ़ाने ही के लिए उन्होंने जातकों के दशरथ की राजधानी वाराणसी से बदलकर साकेत या अयोध्या कर दी और राम के रूप में शुंग सम्राट पुष्यमित्र या अग्निमित्र की प्रशंसा की—वैसे ही जैसे कालिदास ने रघुवंश के रघु और कुमारसम्भव के नाम से पिता पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त की। इस वक्तव्य की असाहित्यिक शुष्कता पर बगैर विचार किये मैं सीधा इसके ऐतिह्य पर आता हूँ।

यह तो कहा जा सकता है कहा गया है कि रामायण शुंग काल में समाप्त की गयी अथवा लिखी गयी परन्तु यह कहना कि वाल्मीकि ने इस रामायण को शुंग काल में लिखा ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त अशुद्ध होगा। ऐसा कहने का तात्पर्य होगा कि वाल्मीकि शुंगकालीन थे। यह गलत होगा उसी प्रकार जैसे कोई शुंगकालीन मनुस्मृति को तत्कालीन कहकर भी मनु को तत्सामयिक नहीं कह सकता। इन दोनों बातों में ज़मीन आसमान का अन्तर है जिसे कदाचित इतिहासकार पूर्णतया समझता है। वाल्मीकि राम के समकालीन थे राम चाहे

जव हुए हो—सभवत १६वी सदी ई० पू० मे या कुछ वाद, जव ऋग्वेद के निर्माण का मध्यकाल था। परन्तु रामायण की भाषा काव्यकालीन, 'क्लासिकल' होने के कारण ऋग्वेद-कालीन तो नही हो सकती ? उसी प्रकार जैसे काव्य-कालीन 'मनुस्मृति' उस मनु की नही हो सकती जो ऐक्ष्वाकुओ के आदि पुरुष थे। वाल्मीकि उस प्रवन्ध-कथानक के आदि कर्त्ता थे परन्तु रामायण-काव्य का रचयिता शुगकालीन कोई और व्यक्ति था जिसने उस काव्य की प्राचीनता, प्रामाणिकता अथवा पावनता घोषित करने के लिए उसे 'वाल्मीकीय' कहा। इसी प्रकार मानव-पद्धति को लिपिवद्ध कर उसे प्रचारित करने के कारण ही शुगकालीन 'मनुस्मृति' की ऐसी सज्ञा हुई। इससे मनु के वाल्मीकि की भाँति शुग राजाओ के दरवारी होने की वात नही कही जा सकती। उस पद्धति को 'इति मनु' कहने की परिपाटी मनु की समसामयिकता नही केवल उस नाम से सम्वद्ध काव्यवद्ध 'स्मृति' की तत्कालीनता सिद्ध करती है। वाल्मीकि को 'शुगवश का आश्रित कवि' कहना इतिहास की वैज्ञानिक सूक्ष्मता का वलिदान कर देना है। फिर इस वक्तव्य मे श्री राहुलजी ने जो कालिदास को चन्द्रगुप्त और कुमारगुप्त की समकालीनता से वाल्मीकि की शुगकालीनता की उपमा दी है वह 'अन्योन्याश्रयदोष' का एक ज्वलन्त उदाहरण है। मैं स्वय कवि कालिदास को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त का समकालीन मानता हूँ। हिन्दी-अग्रेजी मे इस समकालीनता को प्रतिष्ठित करने मे शायद मैंने ही सवसे अधिक समय और स्याही व्यय की है परन्तु प्रमाणो और मनोवृत्ति दोनो से उस महाकवि को गुप्तकालीन मानकर भी मुझे मानना पड़ा है कि यह "रघुवश के रघु और 'कुमारसभव' के कुमार" की ध्वनि पर उनकी समकालीनता स्थापित करने वाला प्रमाण अत्यन्त दुर्वल है। अन्य अनेक और प्रवल प्रमाण इस निष्कर्ष को शक्ति प्रदान करते है परन्तु यह ध्वन्यात्मक प्रमाण स्वय अपने-आप कोई पक्ष निर्धारित नही करता। इससे इस तुलना से वाल्मीकि की शुगकालीन व्याख्या अत्यन्त कमजोर पड जाती है। फिर जव आप जातको (दशरथ-जातक, प्रमाणत) का हवाला देते है तव इस वात को स्पष्टतया भूल जाते है कि उनमे और भी कुछ वाते है जो और पहेलियाँ खडी करती है—जैसे सीता का राम की वहिन होना। रामकालीन वाल्मीकि को उसे वदलने की आवश्यकता नही पड़ती क्योंकि तत्कालीन राजाओ मे भाई-वहिन मे विवाह एक साधारण वात थी। मैंने स्वय पुराणो से रामकालीन (कुछ आगे-पीछे) राजाओ मे इस प्रकार के लगभग २६ उदाहरण ढूँढ निकाले थे (देखिए मेरी Woman in Rig-Veda)। खैर, इतना कह देना काफी होगा कि यह वाल्मीकि को शुगकालीन समझने वाला इतिहास-विवेक अपुष्ट है यद्यपि 'रामायण' को तत्कालीन माना जा सकता है।

पृ० २२२ पर राहुलजी ने इतिहास पर अच्छी लीपापोती की है। अव्वल तो जो वस्तु केवल अनुमान की है और जिसे केवल प्रमाण के सहायतार्थ अथवा व्याख्यार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है उसका आप सर्वथा नींव की शिलाभित्ति की भाँति उपयोग करते हैं। ऊपर बताया जा चुका है कि ध्वन्यात्मक होने से कुमारसंभव के कुमार का अर्थ कुमारगुप्त शक्रादित्य करना अत्यन्त दुर्बल प्रमाण है। परन्तु आप उसका प्रयोग प्रतिष्ठित सत्य की भाँति करते हैं— उस समय कवि कुमारसंभव को लिख रहे थे मुझे उन्होंने बतलाया था कि विक्रमादित्य के पुत्र कुमारगुप्त को ही मैं यहाँ शंकर पुत्र कुमार कार्तिकेय के नाम से अमरता प्रदान करना चाहता हूँ। यही बात अगर इशारे से कही व्यक्त की गयी होती तो कोई हर्ज न था परन्तु सुपर्ण के मुख में कालिदास के स्पष्ट वक्तव्य के रूप में यह अत्यन्त अनुचित हो जाती है यथार्थ और स्थिति दोनों रूप में। और देखिए—पृ० २२२ पर कालिदास सुपर्ण से कहते हैं—

विक्रमादित्य वस्तुतः धर्म का संस्थापक है सुपर्ण! उसने देखो हूणों से भारत भूमि को मुक्त किया। किन्तु उत्तरापथ (पंजाब) और काश्मीर में अब भी हूण हैं आचार्य! गण राज्य इस युग के अनुकूल न थे सुपर्ण! यदि समुद्रगुप्त ने इन गुणों को कायम रखा होता तो उन्होंने हूणों तथा दूसरे प्रबल शत्रुओं को परास्त करने में सफलता न पायी होती (पृ० २२३) अब जरा देखिए इन पंक्तियों में निर्दिष्ट ऐतिह्य को। हूणों का भारत पर हमला पहले-पहल *लगभग ४५५ ई० में हुआ था, जब स्कन्दगुप्त ने उनकी पहली बाढ़ रोक* दी थी। यदि ये भितरी लेख वाले हूण (हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता) जूनागढ़ लेख के म्लेच्छ हैं, तो उस लेख में दिए गुप्त संवत् १३८ (ई० सन् ४५७-५८) से कुछ ही पहले स्कन्दगुप्त ने उन्हें परास्त किया होगा। उस हालत में स्कन्दगुप्त के पितामह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने ही उन्हें कैसे हरा दिया यह समझ में नहीं आता और यह दिक्कत तो तब और भी बढ़ जाती है जब राहुलजी को पृ० २२३ पर समुद्रगुप्त यानी चन्द्रगुप्त के पिता द्वारा भी हूणों को परास्त कराना पड़ता है! पहली टक्कर तो समुद्र के प्रपौत्र स्कन्द के समय हुई थी। मगर राहुलजी के इस सिद्धान्त के लिए, खींच-तान कर मैं कुछ और सुविधा दूँगा। आपका कहना है कि पंजाब और काश्मीर में तब भी हूण थे। यह क्यों? शायद इस कारण कि कालिदास ने 'रघुवंश' के चतुर्थ सर्ग में हूणों के सिन्धुतीर पर होने का उल्लेख किया है। परन्तु यहाँ राहुलजी शायद यह बात सर्वथा भूल गये कि मल्लिनाथ का सिन्धुतीरविचेष्टन पाठ अत्यन्त अशुद्ध है। शुद्ध पाठ है—वंक्षु (वक्षु) तीरविचेष्टन जो वल्लभ और स्कन्दस्वामी सरीखे पूर्ववर्ती व्याख्याताओं ने स्वीकृत किया है। हमें यह न भूलना चाहिए कि रघुवंश की नौ प्रतियों में से ६ में यह पाठ है और केवल तीन में

मल्लिनाथ वाला पाठ। इनमे भी प्रथम मल्लिनाथ स्वय की है, वाकी दोनो उनके पीछे की है। यह अशुद्धि मल्लिनाथ से क्योकर हुई यह विस्तारपूर्वक मैंने अपने 'कालिदास का भारत' (India in Kalidasa) मे लिखा है। यहाँ केवल इतना ही कह देना काफी होगा कि दाक्षिणात्य मल्लिनाथ को केसर उत्पन्न करने वाला काश्मीर छोड दूसरा देश नही ज्ञात था। इसलिए उन्होने यह पाठ मान लिया, फिर भी उनको इस पाठ मे भ्रम वना ही रहा जिमसे अपनी व्याख्या मे वे कह ही वठे—'सिन्धुर्नाम काश्मीरदेशेपु कश्चिन्नदविशेप'। क्या सचमुच सिन्धुनद-से विख्यात नदी को उन्हे 'कश्चिन्नदविशेप' से स्पप्ट करने की आवश्यकता थी? परन्तु काश्मीर के ही निवासी वल्लभ को यह दिक्कत न पडी क्योकि वे जानते थे कि उनके पास ही काश्मीर के उत्तर-पश्चिम मे ही वक्षु की तलेटी मे भी केसरप्रसविनी भूमि है। स्कन्दस्वामी ने भी इसी कारण केसर के पर्याय 'वाह्लीक' को 'वह्लीकदेशज वाह्लीक' कहा। एक अन्य प्रमाण से भी यह स्थिर हो जाता है। उसी चौथे सर्ग मे जुन्नार के पास रघु को पहुँचाकर, कालिदास उनसे अपना मार्ग चुनवाते है—'पारसीकास्ततो जेतु प्रतस्थे स्थलवर्त्मना'—यानी स्थलमार्ग से चले, जलमार्ग से नही। इससे सिद्ध है कि पारसीको को जीतने के लिए उनके देश को जाना जलमार्ग से भी सभव था। अब यदि वे उनके देश को जलमार्ग से जाते तो मक्रान की खाडी अथवा फारस की खाडी से होकर पजाव क्यो आते? पजाव अथवा काश्मीर जाने के लिए कोई वम्वई के पास से जहाज नही लेता। फिर कालिदास तो रघु को फारस मे पहुँचाकर हूण-देश को ले जाने के लिए उसे और उत्तर दिशा पर चलाते हैं—'तत प्रतस्थे कौवेरी भास्वानिव रघुर्दिशम्'—इस हालत मे क्या सारा फारस और पामीर लाँघ कर पजाव और काश्मीर पडते थे? आपने तो घोडे के आगे गाडी धर दी! अन्य प्रमाणो को कालिदास से मिलाते हुए पढिये, समस्या अभी सुलझी जाती है। भारतवर्प से वाहर कालिदास अपने रघु को क्यों ले जाते है? कारण यह है कि वे भारत की एक आदर्श सीमा निर्धारित कर रहे है। उस हालत मे हिन्दुकुश की छाया से निकल कोजक अमरान पहाडो से होते पामीरो मे वक्षुतटवर्ती भूमि मे ही उसका पहुँचना उचित है। इस आदर्श को गुप्तकालीन एक प्रशस्ति-लेख भी प्रमाणित करता है। साधारणतया विद्वान् मानने लगे है कि कुतुवमीनार के प्रागण का महरौली लौहस्तभ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का ही है। मैं भी इसे मानता हूँ और मेरा विश्वास है श्री राहुलजी भी इसी विचार के है। उस लेख मे एक श्लोक है—

यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागता-
न्वंगेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्त्तिर्भुजे।

तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः ॥

इसका तीसरा चरण— तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका (जिसने सिन्धु के सातों मुखों को पारकर वाह्लीकों को जीता—) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह्लीक, बाल्हीक, बल्ख अथवा वक्षु तटवर्ती बैक्ट्रिया है। इससे भी सिद्ध है कि यदि रघु ने हूणों को जीता भी तो उनके देश में जाकर। यह तब जब हम रघु को चन्द्रगुप्त के कलेवर में हूणों को जीतना मानें। परन्तु वास्तव में हूणों को तो स्कन्द ने भारत में जीता। चन्द्रगुप्त द्वारा हूणों से भारतभूमि को मुक्त होना कहना नितान्त अशुद्ध होगा। और समुद्रगुप्त द्वारा हूणों के हराए जाने की बात तो सर्वथा अयुक्तियुक्त और असम्भव है। उनके प्रयाग स्तम्भवाले प्रशस्ति लेख में जो पराजितों की तालिका दी हुई है उसमें हूणों का नाम कहीं नहीं आता। दैवपुत्र शाहिशाहानुशाहिशकमुरुण्डों का जो शक (विशेषकर कनिष्क के वंशज कुषाण) हैं अवश्य आता है। फिर समुद्रगुप्त द्वारा हूणों के पराजित होने की बात आपने कैसे कह दी? आप उसी साँस में कहते हैं कि समुद्रगुप्त ने गण राज्यों का भी नाश कर दिया। ऐसा तो उस प्रशस्ति-लेख में है नहीं। गण राज्यों—मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक और खरपरिक—ने समुद्रगुप्त के प्रताप से घबराकर स्वयं आत्मसमर्पण कर दिया था। उनका नाश भी समुद्रगुप्त ने न कर उन्हें केवल अपने भुक्ति पत्र गरुत्मदङ्क से अंकित कराने को बाध्य किया था। अपनी शासनपद्धति को बरतने में गणराज्य सर्वथा स्वतंत्र रहे।

बात यह है कि जहाँ जहाँ बौद्ध और ब्राह्मण धर्म पर आपने कलम उठायी है वहाँ-वहाँ आपको सर्वत्र बौद्ध धर्म तावतिंश स्वर्ग से पृथ्वी पर उतरता और ब्राह्मण धर्म धरा से पाताल की ओर सरकता प्रतीत होता है। इसे मैं यथास्थान दूँगा। इसके विरोध में बौद्ध धर्मोन्मुख हुए के राज्य का सुख इस प्रकार वर्णित है— मैं अपनी प्रजा को सुखी रखना चाहता था। मैंने उसे देखा। मैं अपने राज्य को शान्त और निरापद रखना चाहता था। अन्त में यह साध भी पूरी होकर रही और लोग इसमें सोना उछालते हुए एक नगर से दूसरी जगह जा सकते थे। (पृ० २५)। यह वक्तव्य स्वयं हर्ष का है। भूतकाल के सम्बन्ध में किए वर्तमान रूप के वक्तव्य का कालक्रम चाहे आप न समझें इतना तो आप समझते होंगे कि यह वक्तव्य किस मात्रा में असत्य है। इतिहास का साधारण पाठक भी इस प्रकार का निर्द्वन्द्व (अथवा काल-दुष्कर?) झूठ न कहेगा। इस बात को कहते वक्त आप भूल गए कि गुप्तकाल में भारत भ्रमण करनेवाला फाह्यान सर्वत्र जहाँ-तहाँ घूमता रहा पर तलवार भी चोरों के भय से नहीं

आया था परन्तु हुएन-च्वाग हर्ष का महधर्मी-अतिथि होकर भी उसके राज्य मे दो-दोवार लुट गया था। अब जाँचिए लेखक के दोनो गुप्तकालीन और हर्ष-कालीन वक्तव्यो की सच्चाई।

पृ० २३३ पर हर्ष के वडे भाई राज्यवर्धन को 'कान्यकुब्जाधिपति' कहा गया है। यह वक्तव्य स्वय हर्ष का है। श्रीकण्ठ (स्थाण्वीश्वर-थानेश्वर) के पुष्पभूति के कुल मे जव राजसत्ता आयी तव कुछ काल वाद उसमे नरवर्धन नामक नृपति हुए। नरवर्धन के पौत्र आदित्यवर्धन ने गुप्त नृपति महासेनगुप्त की भगिनी को व्याहकर अपने राज्य की प्रतिष्ठा वढायी। प्रभाकरवर्धन के समय वर्धनो की शक्ति और वढी। राज्यवर्धन इसी प्रभाकरवर्धन का पुत्र और हर्षवर्धन का वडा भाई था। राज्यवर्धन की वहिन राज्यश्री के पति कान्यकुब्ज (कन्नौज) के अधीश्वर ग्रहवर्मन् मौखरि को मालव देवगुप्त ने मार डाला। राज्यवर्धन ने यह खवर सुनकर प्रतिशोध के लिए यात्रा की और शायद उसने देवगुप्त को हराया भी, परन्तु जव वह लौट रहा था तव गौड के शशाक की दुरभिसन्धि का वह शिकार हुआ जिससे स्थाण्वीश्वर की गद्दी हर्ष को मिली। फिर जव राज्यश्री ने कान्यकुब्ज का राज्य अपने भाई हर्ष को जवरन दे दिया तव श्रीकण्ठ का राजा कान्यकुब्ज का पहला शासक वना। परन्तु न जाने किस ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर श्री राहुलजी ने राज्यवर्धन को ही 'कान्यकुब्जाधिपति' वना डाला।

पृष्ठ २३५ पर हर्ष का वक्तव्य है—'मेरे कुल के वारे मे अभी ही पीठ-पीछे लोग कहने लगे है कि वह वनिया का कुल है। यह विल्कुल गलत है, हम वैश्य क्षत्रिय है, वैश्य वनिये नही। किसी समय हमारे शातवाहनकुल मे सारे भारत का राज्य था। शातवाहन राज्य के ध्वस के वाद हमारे पूर्वज गोदावरी तीर के प्रतिष्ठानपुर (पैठन) को छोड स्थाण्वीश्वर (थानेसर) चले आये। शातवाहन (शालिवाहन) वश कभी वनिया नही, यह सारी दुनिया जानती है।" परन्तु क्या यह दुनिया नही जानती कि शातवाहनकुल यदि वनिया न था तो क्षत्रिय भी न था, वह ब्राह्मण था? क्या कहना है नासिक वाला गौतमीपुत्र-शातकर्णि का लेख?—'एक ब्राह्मण—(परशु) राम की भाँति पराक्रमी' (देखिए पक्ति ७), 'क्षत्रियो के मान और दर्प का दमन करने वाला' (खतियदपमानमदनस सकयवनपह्लवनिसूदनस खखरातवसनिखसेसकरस सात-वाहनकुलयसपतिथापनकरस—पक्ति ५)। श्री राहुलजी इस वात को भूल गए कि ब्राह्मण पुष्यमित्र शुग ने मौर्य-वशीय क्षत्रियराज वृहद्रथ को मारकर जव मगध का राज्य स्थापित किया उस समय सारा भारत तीन ब्राह्मणकुलो की आधीनता मे वँट गया था—(१) उत्तर भारत शुगो के शासन मे, (२) पूर्व भारत (कलिंग) चैत्यकुलोद्भव खारवेल के शासन मे, और (३) दक्षिण भारत आन्ध्र

सातवाहनकुल के शासन में। सातवाहनों को क्षत्रिय अथवा हूण के पूर्व पुरुष मानना इतिहास को चुनौती देना है।

पृष्ठ २५४ पर कन्नौज के गहड़वाल राजा जयचन्द्र का एक चित्र इस प्रकार है—उनके मांस लटके चिबुक अतिफुल्ल कपोल गंगाजमुनी मूँछ प्रमुखा की तरह के लम्बित स्तन महाकुम्भ सा उदर पृथुल कोमल मांस सम्पूर्ण उरु तथा पिंडुली, रोमश स्थूल बाहुओं को देखकर साधारण तरुणी भी अवज्ञा किए बिना नहीं रहती किन्तु यहाँ उनका शरीर प्राण इस बूते के हाथ था। कोई उनके दन्तरहित होठों में अपने होठों को दे रही थी, कोई उनके पार्श्वों से अपने स्तनों को पीडित कर रही थी कोई उनकी रोमश भुजाओं को अपने कंधों और कपोलों से लगा रही थी। कामोत्तेजक गीत के साथ नृत्य शुरू हुआ। रानियाँ और परिचारिकाओं के बीच अपनी उछलती तोंद लिये महाराज भी नाचने लगे। इतिहास के कुछ अंधेरे गह्वर होते हैं और उनमें किसी प्रकार गिर गये प्राणी अत्यन्त अधोगति सहते हैं। जयचन्द्र भी उन्हीं अभागों में से एक है जिसका अकारण अपमान हुआ है और आज वह देश द्रोह का प्रतीक-सा हमारे सामने उपस्थित किया जाता है। वास्तव में इतिहास में जितना इस व्यक्ति के साथ अन्याय हुआ है उतना किसी के साथ नहीं। उसके सौजन्य और वीरता की रक्षा करने का महामहोपाध्याय श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने प्रयत्न किया है फिर भी उस गरीब पर चलते चलते लोग छींटे उछाल ही देते हैं। परन्तु इस बहती गंगा में हाथ धोना श्री राहुलजी से विद्वानों को कहाँ तक शोभा देता है इससे बात हम क्या कहें। जयचन्द्र का दोष बस इतना था कि देश की आवश्यकता के समय वह अपनी गार्हस्थ्य दुर्बलताओं के ऊपर न उठ सका। इतिहास के शोध ने इसको पूर्णतया सिद्ध कर दिया है कि मोहम्मद गोरी के द्वितीय आक्रमण में जयचन्द्र का कोई हाथ न था और यदि होता भी तो उसके बाद के आचरण ने उस पाप को पूरे तौर से धो दिया। राणा सांगा ने स्वयं बाबर को बुलाने के लिए अपने दूत काबुल में भेजे थे? परन्तु जयचन्द्र के विरुद्ध तो 'रासो' (जो वास्तव में सोलहवीं सदी में पूरा हुआ) के संदिग्ध प्रमाण के सिवा और कोई प्रमाण नहीं। उसने इतना अवश्य किया कि पृथ्वीराज को द्वितीय आक्रमण संभालने में मदद न दी। परन्तु यह तो कितने ही राजाओं ने उस बार में किया था। जयचन्द्र का ऐसा न करना तो क्षम्य भी था। कितने प्रेम होंगे जो अपनी कन्या छीन ले जाने वाले की मदद करें विशेषकर जब ऐसा नार्मिक लम्पट और दुराचारी हो जिसके शृङ्खला में पत्नी-पुत्री छिन जाने का काम बना रखा हो? पृथ्वीराज वाजिन्अगोशाह के दर्दनाक (बड़ भाई) थे। किसी का खंडन उनके राज में सुरक्षित न थी। बस इसमें समय लाजिम है जो परम स्त्री छीनने के लिए कई-कई सामन्त वीरों का बलिदान कर सकता

था उसकी लम्पटता की क्या हद रही होगी। जगनिक के आल्हा साहित्य मे उसकी शादियो का एक ताँता मिलता है। किस प्रकार भला गहडवाल नृपति, जो भारतीय राजनीतिक क्षेत्र मे राजसूययाजी सम्राट् समझा जाता था और जिसके कन्नौज की 'महोदयश्री' की देश मे धाक थी, अपना यह अपमान सह सकता था, फिर भी अपयश उसको ही लगा। इस पर तुर्रा यह कि पृथ्वीराज के व्याभिचारी चरित्र के विरोध मे उसका चरित्र दोपरहित है। व्यक्तिगत वीरता मे पृथ्वीराज से वह कही वढकर था। इतिहास का पन्ना-पन्ना कहता है कि जव सेना मे भगदड मच गयी तव 'राय पिथौरा आतक मे भर हाथी से उतर घोडे पर चढकर भागा। मगर वह सिरसुती के किनारे पकड़ लिया गया और जहन्नुम रसीद हुआ', मार डाला गया। परन्तु इसके विरुद्ध जयचन्द्र ने क्या किया ? इटावे के पास चन्दावर के मैदान मे उसने शहाबुद्दीन के खिलाफ तलवार खीची, लोहे से लोहा वजाया। मुसलमान इतिहासकारो ने आँखोदेखी उस घटना को मुक्तकठ से सराहा है जिसमे जयचन्द्र ने अफगानो के दाँत खट्टे कर दिये थे और सम्मुख समर मे लडते हुए प्राण दिये थे। वीर की भाँति अस्सी वर्प की वृद्धावस्था मे रणक्षेत्र मे मरने वाले उस जयचन्द्र का जो रूप श्री राहुलजी ने हमारे सामने खडा किया है वह पहचान मे नही आता। नैषधकार श्रीहर्ष का सरक्षक होने के कारण ही जयचन्द्र चरित्रहीन नारीसेवी नही कहा जा सकता। कालिदास के आश्रयदाता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य पराक्रम मे प्रतीक थे यद्यपि उस महाकवि-सा शृगारिक शायद भारत ने और पैदा न किया। जयचन्द्र को इस प्रकार चित्रित करना इतिहास का अपमान करना है।

कहानीकार ने इतिहास को पीछे रखकर अपनी इच्छा के अनुसार पात्रो का चरित्रनिर्माण किया है। अलाउद्दीन, जिसकी नृशसता और अतिशासन की उपमा नही दी जा सकती, उनके लिए समृद्धि का दाता है। अलाउद्दीन से वह 'लाभदीन' वन जाता है, उसके राज मे, 'दूध की नदियाँ वहने लगती है' (पृ० २८३)। लेखक को धोखा हो गया है शायद उसके बाजार दर स्थापित करने के कारण। परन्तु उसने यह न समझा कि अलाउद्दीन ने यह सव मगोलो के आक्रमण के डर से अपनी सेना के लाभ के लिए किया था। इसका लाभ जनता, किसानो आदि को न था, केवल उसकी सेना को था। यदि आप वस्तुत उस राज के वारे मे जानना चाहे तो तत्कालीन मुसलमान तवारीखनवीसो के लेख पढे। वरनी लिखता है—'प्रजा नितान्त नृशसतापूर्वक कुचली जाती है, उससे हर वहाने रुपया वसूला जाता है। किसी के पास धन न रहा। मालिको और अमीरो, अमलो और मुल्तानियो (सिन्धी सौदागर) और साहूकारो को छोड किसी के पास एक पैसा न रहा। हालत ऐसी हुई कि चन्द हजार टको (रुपयो) के सिवा सिक्को की चलन तक देश मे न रही।...प्रजा इस कदर गरीव हो गयी

है अपनी खुराक की चिन्ता में वह इस कदर मग्न हो गयी है कि बगावत करने की उसे फुरसत ही नहीं। हिन्दुओं को खास तरह से कुचल दिया गया है। वे हथियार नहीं बाँध सकते, घोड़े पर नहीं चढ़ सकते, अच्छे कपड़े नहीं पहन सकते, आराम का कोई जरिया उन्हें मुहैया नहीं। पैदावार का आधा उन्हें सरकार को टैक्स देना पड़ता है। गाय, भैंस और बकरियों आदि मवेशियों पर भी कर देना होता है। बीस-बीस हिन्दुओं को एक साथ बाँधकर अक्सर कर उगाहने वाला अफसर लाता है और मार-मारकर उनसे रुपये वसूल करता है। सोना-चाँदी यहाँ तक कि पान का पत्ता तक हिन्दुओं के घर में नहीं दिखायी देता। उनके घरों में मुफलिसी इस कदर नाज़िल हुई है कि उनकी औरतें मुसलमानों के घरों में गुलामी करके जिन्दगी के दिन गुज़ार रही हैं। अलाउद्दीन काज़ी से हिन्दुओं के प्रति शरियत के उसूल पूछता है। उत्तर मिलता है— हिन्दू खिराजगुज़ार है और जब कर वसूल करने वाले सरकारी ओहदेदार उनसे चाँदी माँगें तब उन्हें निहायत आजिज़ी के साथ सोना हाज़िर करना चाहिए। अगर अफसर उनके मुँह में थूकने की ख्वाहिश ज़ाहिर करे तो बग़ैर मुँह फैलाकर उसे मंज़ूर करना चाहिए। ऐसा करके वे उस अफसर के लिए इज़्ज़त ज़ाहिर करेंगे। खिराज देकर और थूक को मुँह में मंज़ूर कर ज़िम्मी (हिन्दू या गैरमुस्लिम) अपनी आजिज़ी का इज़हार करेंगे। हिन्दुओं को कुचलकर रखना मज़हबी फर्ज़ है क्योंकि वे हज़रत मुहम्मद के जानी दुश्मन हैं। अलाउद्दीन कहता है— मैं शरियत नहीं समझता, एक हरफ पढ़ा लिखा नहीं हूँ पर हिन्दुओं को मैंने इस तरह कुचल दिया है कि मेरे इशारे पर वे चूहों की तरह बिलों में जा दुबकते हैं। ध्यान रखो कि जब तक हिन्दुओं के पास दूध-दही रहेगा वे कभी सिर नहीं झुकायेंगे। इसलिए मैंने उनसे आराम की सारी चीज़ें छीन ली हैं। यह है अलाउद्दीन के राज्य का कच्चा चिट्ठा जिसका बयान आँखोंदेखे तत्कालीन तवारीखनवीसों ने किया है। श्री राहुलजी ने इस 'बाबा नूरदीन' वाली कहानी में तो स्याह को सफ़ेद कर दिया। अपने सिद्धान्त के प्रचार में उन्होंने सत्य और इतिहास का गला घोंट दिया। सिद्धान्त का प्रचार सच्चाई के शोले उछालकर करना चाहिए।

सुरैया नाम की कहानी में टोडरमल के बेटे कमल और अबुलफज़ल की बेटी सुरैया के प्रेम का उद्घाटन है। अकबर के राज्यकाल में उस महान सम्राट की अभिरुचि देखते हुए इस प्रकार की कल्पना सुन्दर ही नहीं उपादेय भी है। यहाँ तक तो सब ठीक है पर दिक्कत तब उठ खड़ी होती है जब कल्पना तुरंग निरगल हो जाता है जब सुरैया और कमल यूरोप जा पहुँचते हैं और वेनिस और फ्लोरेंस की सैर करने लगते हैं (पृ० २९९, ३०२)। कल्पना की भी एक अन्दाज़, एक मर्यादा होती है। कल्पना अपनी है, चाहे जितनी हम

कर सकते है पर उसका भी कोई मर्यादित, सकारण, उचित आधार होना चाहिए । आप वात कर रहे है सोलहवी सदी की जव फ्राविशर और ड्रेक, हाकिन्स और रैले सागर-विजय कर रहे थे । कमल तो यदि कश्मीर के डल-ऊलर मे ही वने रहते तो अच्छा था, भूमध्य सागर और अतलातिक मे उनका पोत-सचालन उस काल मे कुछ अजीव लगता है । और वे वहाँ अकेले नही है, उनकी सुरैया भी है जो सागर-विजय के लिए निकली है । समुद्र-यात्रा आखिर क्या इतनी आसान थी कि सामुद्रिक मजे के लिए की जा सके ? फिर अग्रेज लोग मारे डर के अपनी वीवियाँ क्यो छोड आते थे ? उस काल मे अनेक यूरोपीय देशो मे तो अभी छापेखाने खुले ही न थे, परन्तु कमल अवश्य भारत मे मुद्रण के स्वप्न देखने लगता है । इसी प्रकार वह पोतो पर तोपो की व्यवस्था की वात भी सोचने लगता है । अभाग्यवश समुद्री डाकुओ ने उसके स्वप्न का अन्त कर दिया वरना निश्चय ही अमेरिका मे जहाँ जेम्स प्रथम के उपनिवेश खडे हुए, शायद जहाँगीर के होते ! सुरैया और कमल ने हिन्दू-मुस्लिम-सम्वन्ध और एकता की ही नीव नही डाली वरना सदियो से चले आते परदे को भी तोड दिया ! निस्सन्देह दोनो अपने समय से तीन सदी आगे थे ।

इसी प्रकार 'मगलसिह' नामक कहानी भी अपने समय से वहुत पूर्व प्रसूत हो गयी है । मगलसिह—रामनगर राज्य के राजा चेतसिह के क्रिश्चियन पोते—विलायत पहुँचकर माँ को तो भूल जाते है । उनके सामने केवल दो मसले है—एक तो वही की एक गौरागी से प्रेम करना, दूसरे मार्क्सवाद का अध्ययन करना । आप मार्क्स और एगेल्स से मिलते हैं और उनके सिद्धान्तो से प्रभावित होकर भारत लौटकर यहाँ सन् सत्तावन के गदर के अवसर पर समाजवाद का प्रचार करते है । मै समझता हूँ यह भी कुछ समय पूर्व ही है । राष्ट्रीयतावादी काग्रेस के जन्म (१८८५) से भी लगभग दो युग पूर्व भारत मे समाजवाद के उसूलो पर गदर को ले चलने का प्रयत्न कुछ अजव लगता है । इस वात को हमे न भूलना चाहिए कि यूरोप के अनेक देश तव विप्लव कर रहे थे जव वह ससार का अद्भुत मेधावी मार्क्स लन्दन मे वैठा लिख रहा था । वाल्कन देशो, इटली, स्पेन, पोलैण्ड, स्वय मार्क्स के देश जर्मनी मे, सर्वत्र स्वतन्त्रता के आयोजन हो रहे थे । परन्तु एकाध को छोडकर कही उसके सिद्धान्तो के प्रचार की गुजायश न हो सकी । इसका कारण कुछ तो यह था कि अभी समय आया न था, दूसरे यह कि शायद मेटरनिक, कावूर और विस्मार्क जिन्दा थे । मात्सीनी और गारीवाल्दी तक (जो प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय के सदस्य थे) तो इटली मे इसकी कल्पना कर नही सकते थे, और इसी कारण मार्क्स ने मात्सीनी को धिक्कारा भी था, और मगलसिह भारत मे समाजवाद के अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करने लगे ! अनार्किस्ट वाकूनिन को तो तथ्य न समझ सकने के कारण

मार्क्स ने भावुक मूर्ख कहा आज यदि वह जिन्दा होता तो श्री राहुलजी के इस मगरसिंह को कहाँ तक पहचान पाता नही कहा जा सकता। केवल फ्रांस म १८७१ म कुछ हफ्तो के लिए मजदूरो का राज कायम हो गया था पर असुरो न उसे खून म डुबा दिया। ऐतिहासिक अनुक्रम म यह कहानी भी ठीक नही बठती।

श्री राहुलजी ने आरम्भ की कहानियो मे जो कालक्रम और पीढीक्रम दिया है वह भी पूर्णतया शुद्ध नही है यद्यपि वह उनका अपना है। परन्तु अपनी गणना के आधार पर भी वे सही न रह सके। अपनी कहानियो के आरम्भ म *काल वर्षों म और उनके अन्त म पीढियो म बताया है। पीढियो का अनुपात* लगभग बीस वर्ष प्रति पीढी है। परन्तु हिसाब लगाने पर एक समस्या खडी हो जाती है। एक नजर नीचे रखें—

	कहानी	काल	पीढी (आज से पूर्व)	लब्ध-काल
१	निशा	६००० ई० पू०	३६१ (७२२० १९४५) = ५२७५	(?)
२	दिवा	३५००	२२५ (४५०० १९४५) = २५५५	(?)
३	अमृताश्व	३०००	२०० (४००० १९४५) = २०५५	(?)
४	पुरुहूत	२५००	१८० (३६०० १९४५) = १६५५	(?)
५	पुरुधान	२०००	१६० (३२०० १९४५) - १२५५	(?)
६	अगिरा	१८००	१५२ (३०४० १९४५) = १०९५	(?)
७	सुदास	१५००	१४४ (२८८० १९४५) = ९३५	(?)
८	प्रवाहण	७००	१०८ (२१६० १९४५) = २१५	(?)
९	बधुलमल्ल	४९०	१०० (२००० १९४५) = ५५	(?)

ऊपर दी हुई गणना मे स्पष्ट हो जायगा कि काल निष्कर्ष (लब्ध काल) गलत है। आप चाहे पीढी का औसत २० वर्ष न रख २५ १५ १० कुछ भी रखें निष्कर्ष का औसत वही बना रहगा।

एक प्रकार का और दोष जो श्री राहुलजी की कहानियो म है वह है उनका भविष्य वचन (historical presaging)। आगे ऐतिहासिक काल म होने वाली घटनाओ की ओर पात्र पहल ही सकेत कर देते हैं। राहुलजी आज लिखने के कारण निम्सन्देह पात्रो और अपने काल के बीच की घटनाएँ जानते हैं परन्तु इस कारण जितना आप जानते हैं उतना घटनाओ से पूर्ववर्ती पात्रो द्वारा उनका प्राक्कथन एक अदभुत असामजस्य उपस्थित करता है। अभी सिकन्दर पूर्व की ओर बढ़न की तयारी कर रहा है परन्तु नागदत्त म उसकी प्रेयसी पूछती है— क्या यवन और हिन्दू चक्रवर्तियों का सिन्धु-तट पर मिलन तो न होगा? (पृ० १३९) फिर पृ० २२ पर वक्तव्य है—'कुमारगुप्त भी अपने साथ मोर का चित्र खिचवायगा और कल का कोई कवि उस कुमार का

अवतार कहेगा'—क्योंकि श्री राहुलजी जानते है कि ऐसा हुआ, यद्यपि कालिदास के कुमारसभव (अवतार) की वात जरा दुर्वल पडती है। पृ० २२६ पर सुपर्ण कहता है—'रास्ते मे चोरो का डर न था, गुप्तो के इस प्रबन्ध की प्रशसा करनी होगी। किन्तु क्या गुप्त शासन ने देश के प्रत्येक परिवार को इतना समृद्ध कर दिया है, जिससे कि वटमारी-रहजनी उठ गयी ?' किन्तु क्या यह सवाल करना केवल गुप्त सम्राटो से मुनासिव है अथवा ससार के सारे शासको से ? क्या उस महाद्रष्टा मार्क्स के पूर्व इन विचारो का आभास हो सकता था ? क्या स्वय हम मार्क्स के अध्ययन के पूर्व इस प्रकार के समाज की कल्पना करते थे ? आपने स्वय जितना झेला है—ब्रिटिश और काग्रेस-शासन दोनो मे—उतना भारत मे कम व्यक्तियो ने वर्दाश्त किया है, परन्तु क्या पूछूँ आपसे कि जव सन् २१-२२ की भट्टी मे आप स्वय वक्सर जेल मे जल रहे थे उस समय भारत मे केवल काग्रेस-राष्ट्रीय-शासन कायम करने के सिवा और भी कोई मार्क्सानुगामिनी 'पटिपदा' आपके सम्मुख थी ? आप शायद भूलते है कि जव तक मार्क्स ने ससार को अपने आदर्श न सुझाये थे तव तक उस वर्गरहित समाज का रूप अचिंतित था। ससार ने अभी तक मार्क्स-जैसा मेधावी पैदा नही किया। और चाहे वौद्ध खीष्टीय विहारो के सार्वजनिक स्वत्वो अथवा अफलातून के 'प्रजातन्त्र' और 'आध्यात्मिक-शासको' मे कोई मार्क्स के सिद्धान्तो का आदिविन्दु क्यो न पढने का प्रयत्न करे परन्तु वात रह जायेगी कि आधुनिक वैज्ञानिक समाजवाद का एकमात्र द्रष्टा वही है। और इस कारण उसके प्रादुर्भाव के पूर्व शासको से यह पूछना कि तुमने वर्गरहित, वैयक्तिक सपत्ति-रहित समाज का निर्माण क्यो नही किया, नितान्त हास्यास्पद है। इसी प्रकार 'सुरैया' वाली कहानी मे वीरवल का अपने ही समय मे अपने और अकवर के सम्वन्ध मे प्रचलित (अथवा उनके द्वारा सम्राट् से कही गयी) कहानियो का सग्रह कर देना कम विस्मयजनक नही।

श्री राहुलजी ने इस सग्रह मे कुछ ऐसी वाते भी लिखी हे जिनकी सच्चाई मे काफी सन्देह किया जा सकता है। पृ० ११२ पर उल्लेख है—'जिसने (राजा ने) जन की ऑखो मे धूल झोककर कहना शुरू किया—इन्द्र, अग्नि, सोम, वरुण, विश्वदेव ने इस राजा को तुम्हारे ऊपर शासन करने के लिए भेजा है, इसकी आज्ञा मानो, इसे वलि-शुल्क-कर दो।' 'सुदास को अव पता लगा कि इन्द्र, वरुण, अग्नि, सोम के नाम से इन सफेद दाढियो ने लोगो को कितना अन्धा वनाया है' (पृ० ११५)। 'इन चाटुकार ऋषियो की बनायी सुदास की दानस्तुतियो मे कितनी ही अव भी मौजूद हैं, किन्तु यह किसको पता है कि सुदास इन दानस्तुतियो को सुनकर उनके वनाने वाले कवियो को कितनी घृणा की दृष्टि से देखता था' (पृ० ११३)। 'ब्रह्म का स्वरूप मैंने ऐसा

बतलाया है कि कोई उसके देखने की माँग नहीं पेश करेगा (पृ० १२५)। 'इसीलिए मैं कहता हूँ कि उसके दर्शन के लिए मैं ऐसे ऐसे साधन बतलाता हूँ कि लोग छप्पन पीढ़ी तक भटकते रहें और विश्वास भी न खो सकें। मैंने पुरोहितों के स्थूल हथियार को बेकार समझकर इस सूक्ष्म हथियार को निकाला है' (पृ० १२६)। इस आकाश या ब्रह्म से भी बढ़कर मेरा दूसरा आविष्कार है—पुनर्जन्म (पृ० १२७)। धर्म के नाम पर राजा और ब्राह्मणों के स्वार्थ के लिए हम जो कुछ कूट मन्त्रणा कर रहे हैं उसका रहस्य इससे छिपा नहीं है (पृ० २२९)। ऊपर के अवतरण केवल उदाहरणार्थ दिये गये हैं वैसे उनकी संख्या पुस्तक में भरी पड़ी है। इन वक्तव्यों के द्वारा विद्वान् लेखक ने जो रूप खड़ा किया है वह गलत हो गया है यद्यपि वह उसे यदि उचित रूप से रखता तो अग्राह्य न हो सकता। इन्द्रादि देवताओं की आराधना का आरम्भ जिस रूप में लेखक बताता है वह वैसा नहीं है। आरम्भ तो वास्तव में उनके प्राकृतिक विस्मय के कारण हुआ। हाँ उसका लाभ पश्चात् काल में अवश्य उठाया गया परन्तु उन देवताओं के नाम से सफेद दाढ़ियों ने लोगों को जो अन्धा बनाया उस कार्य के उत्तरदायित्व से सुदास के पूर्वज अथवा स्वयं वह बरी न रह सके। उसमें उनका भी हाथ था। और इस कारण सुदास को कवियों की कृतियों को घृणा से देखने का कोई कारण नहीं हो सकता था। या तो वह उस चाटुकारिता को समझता न था या चाटुकारों के लाभ में उसका साझा था। पिता के दिए मानस और शरीर को धारण करनेवाला सुदास निश्चय श्री राहुलजी द्वारा प्रस्तुत रक्तरहित सुदास से भिन्न था। प्रवाहण जवलि के मुख में भी पृ० १२५-१२७ के अवतरण रखना उसके साथ अन्याय करना है। गीता को न समझने वाले और उसकी स्थितप्रज्ञ अवस्था पर प्राण देनेवाले मूर्खों की संख्या कम नहीं है परन्तु वे स्वयं उस जाल से बरी हैं। इसके लिए प्रमाण नहीं है कि प्रवाहण ने छप्पन पीढ़ियों तक लोगों को ठगने के लिए ब्रह्म और 'पुनर्जन्म' का आविष्कार किया। कम से कम हमारे पास इसका प्रमाण नहीं है। बस तो थ्यूसीडीडिज के अनुसार मरा मनुष्य (कुत्ता?) काटता नहीं, और प्रवाहण श्री राहुलजी से जीकर प्रश्न नहीं कर उठेगा। अच्छा होता यदि किसी कल्पित पात्र के मुख में वे ये वक्तव्य रखते। ब्रह्म आदि सारा गल्प तो अवश्य है परन्तु उसका जान-बूझकर धोखे के अर्थ प्रवाहण ने आविष्कार किया यह समझ में नहीं आता। उसमें उसका भौतिक लाभ न था। ब्राह्मणों का यत्न से लाभ होना अवश्य कुछ हद तक माना जा सकता है। 'पुनर्जन्म तो वास्तव में ज्ञान की साध है जिसकी इति इस पृथ्वी पर जीकर भी बनी रहती है। जो साध यहाँ पूरी न हो सकी उसे पूरा करने के लिए ही मनुष्य ने अन्य लोकों में उसकी भोगने की कल्पना की। हाँ एक वर्ग ने उससे लाभ उठाया हो यह

सम्भव है। परन्तु पितृलोक का सृजन ऐतिहासिक काल के पूर्व की वात है। श्री राहुलजी निश्चय जानते होगे कि देववर्ग के सृजन के अत्यन्त पूर्व जव लाभ-हानि का कोई सवाल भी न हो सकता था और जव सभ्यता का कोई रूप भी निश्चित न हो पाया था तभी पितृवर्ग उठ खड़े हो गए थे। वह इस कारण कि निर्वोध मानव मे देवता के सिरजने की शक्ति अभी न आयी थी और वह केवल इतना सोच सका था कि जो यहाँ अभी-अभी था वह कही भी होगा ही। फिर यदि कही होगा तो उसे भोजन भी चाहिए, भोग भी, आच्छादन भी। यही पुरोहित वस निकल पडा क्योकि उसको देकर ही मृतक को देने की व्यवस्था हो सकी। और इस प्रकार यज्ञादि की नीव पडी। परन्तु जिस रूप मे श्री राहुलजी ने इसे रखा है वह स्वीकार नही किया जा सकता। और कालिदास की धर्म के नाम पर राजा और ब्राह्मणो के स्वार्थ के लिए जो कूट मन्त्रणा की वात कही गयी है उसे पढकर तो लेखक के साहस पर आश्चर्य हो आता है। श्री राहुलजी इस बात को भूलते हैं कि कालिदास के समय तक उन आचारों का, जिनका वे निर्देश करते हैं, इस कदर रूढीकरण हो चुका था कि उनकी कूट मन्त्रणा का अवसर ही न मिलता। आज का निर्वोध पण्डित जिस प्रकार सस्कृत के वाक्य को ब्रह्म वाक्य समझ स्वभावतया ग्रहण करता है कालिदास भी उसी प्रकार रूढियो के शिकार हो चुके थे। उनके मन मे कूट मन्त्रणा का विचार तक वैसे ही नही उठ सकता था जैसे उन रूढियो के प्रति अविश्वास अथवा प्रतिक्रिया।

वौद्ध-धर्म का मोह लेखक मे वहुत है। 'वौद्ध ही सवसे उदार धर्म है' (पृ० १६५), कालिदास 'सिर्फ कवि' है, परन्तु 'अश्वघोप महापुरुष और कवि दोनों' है (पृ० २२५)—यह स्वय कालिदास कहते है। शेर से किसी ने तस्वीर दिखाकर कहा—देख, इसमे तेरे ऊपर आदमी चढा वैठा है। मुसकराकर वह वोला—सही, चितेरा शेर न था! लेखनी लेखक के हाथ थी और कालिदास मर चुका था। दिङ्नाग—द्रविड नास्तिक—"के सामने विष्णु क्या, तैतीस कोटि देवताओ का आसन हिलता है" (पृ० २२६), वसुवन्धु 'ज्ञानवारिधि' है (पृ० २३०)। एक अद्भुत वक्तव्य पृ० २३१ पर है—"वौद्धो को ब्राह्मण जवर्दस्त प्रतिद्वन्द्वी समझते है, वह जानते हैं कि सारे देशो के वौद्ध गोमास खाते है, जिसे वह नही छोडेगे, इसलिए इन्होने धर्म के नाम पर गोमासवर्जन—गो-ब्राह्मण-रक्षा का प्रचार शुरू किया है।" इसपर कुछ कहना इस कथन की मर्यादा वढाना है। परन्तु वास्तव मे श्री राहुलजी की मेधा के लिए यह दलील कितनी ओछी है यह इतिहास का नगण्य विद्यार्थी भी समझ लेगा। गोया गो-हत्या का विरोध वौद्ध-धर्म के उदय के वाद आरम्भ हुआ (देखिए, ऊपर यथास्थल इस विपय पर हमारा वक्तव्य)। फाह्यान मुहम्मद साहव के जन्म

से दो मन्त्रियाँ पूर्व भारत आया था। एक चीनी लाल बुझक्कड़ ने कहा—देखो तो इस फाह्यान का सफेद झूठ। कहता है कि गोबी के बौद्ध विहारों में ठहरता हुआ वह भारत पहुंचा। गोबी का प्रदेश तो सदा से मुसलमान था। ब्राह्मणों के धर्म से मुझे नफरत है। वस्तुतः कामरूप-नरपति जैसे कितने ही दिन के भले लोगों को कायर बनाने का दोष इसी ब्राह्मण धर्म को है जिस दिन यह धर्म इस देश से उठ जायगा उस दिन पृथ्वी का एक भारी कलंक उठ जायेगा (पृ० २४७-४८)। इस प्रकार के बौद्ध पक्ष में स्वस्तिवाचन पद्या गुणपण यौधेय दुमुख आदि कहानियों में भरे पड़े हैं। जिन पर विचार करने के लिए न तो मेरे पास समय है न स्थान। ब्राह्मणत्व से छूट जाना ही स्वातन्त्र्य नहीं है। त्रिपिटकों और बुद्ध की गुलामी उतनी ही बुरी है जितनी वेदों और राम की। बुद्ध के लिए किस आदर न होगा उस बुद्ध के लिए जिसने वैयक्तिक ममता के लिए आवाज उठायी और समाज में शान्ति उपस्थित कर दी। परन्तु बौद्ध होते ही मेधा खुल जाती है यह प्राचीन बौद्ध शैली का सिद्धान्त है। दिव्यावदान में इस प्रकार के अनेक स्थल कहे गये हैं। पर क्या सचमुच ही दिङ्नाग वसुमित्र असंग नागार्जुन अश्वघोष वसुबन्धु धर्मकीर्ति आदि बौद्ध होने के पूर्व कुछ न थे? क्या इन बौद्ध दार्शनिकों के पीछे की heredity पर कुछ विचार करने की आवश्यकता नहीं? एक बात फिर भी पूछूंगा—कितने नाम श्री राहुलजी ऊपर बताये दार्शनिकों के जोड़ के ऐसे गिना सकेंगे जो ब्राह्मणेतर थे? आप शायद भूलते हैं कि यदि विश्लेषण किया जाय तो बौद्ध धर्म के पंगु प्रभाव द्वारा भारत का अपकार अनन्त शृंखला में सिद्ध हो जायगा। उसी धर्म का यह प्रभाव था कि दिमित्रियस और मिनान्दर ने पाटलि-पुत्र को रौंद डाला और अन्य शकों ने उसी नगर में इतने पुरुषों को तलवार के घाट उतारा कि छः छः स्त्रियों को एक एक किशोर स्वीकार करना पड़ा। उसी धर्म का यह प्रभाव था कि जनता कापुरुष हो गयी और अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ का वध कर ब्राह्मण पुष्यमित्र शुंग को राजरज्जु स्वीकार करनी पड़ी। मानवाहनों ने दक्षिण और चष्टनों ने पूर्व में इसी कारण तलवार उठायी। इसी प्रभाव के कारण बख्त्यार ने नालन्दा में हजारों भिक्षुओं को कत्ल कर सत्रह सवारों के साथ गौड़ को रौंद डाला। इसी सद्धर्म ने मन्त्रयान और बीभत्स घृणित वज्रयान की नींव डाली थी जिससे उड़ीसा से कामरूप तक काम वासना का नग्न नृत्य हुआ था। इस प्रभाव की शृंखला को खींचने के लिए वास्तव में समय और स्थान चाहिए। श्री राहुलजी इस बात को भूलते हैं कि भारतीय समाज के अच्छे-बुरे संगठन का श्रेय ब्राह्मण बौद्ध दोनों को है। बौद्धों के अद्भुत दर्शन के साथ उनके पुराण भी लगे हैं उतने ही घृणित जितने हिन्दुओं के।

ऊपर के विश्लेपण से सिद्ध हो गया होगा कि विद्वान् लेखक की कहानियो का ऐतिह्य कितने पानी मे है। कहानी-कला के इनमे जो नये स्रोत उसने खोले है उनका वखान भी कोई कहाँ तक करेगा। केवल एकाध प्रसग का इस सम्बन्ध मे निर्देश कर देना काफी होगा। उसके लिखने का तर्ज उन्नीसवी सदी का है—चन्द्रकान्ता सन्तति का। उसके कुछ वक्तव्य इस प्रकार है—"आइए इस वनपक्ति को कुछ समीप से देखे" (पृ० १)। "आओ, पहाडी के ऊपर सर्वोच्च स्थान के देवदारु पर चढकर चारो ओर देखे" (पृ० २)। अव चढिए लेखक के साथ देवदारु पर! और सुनिए मर्यादा का निरूपण भापा मे—"हाँ वत्स! पहले दिन के किए पाखाने पर रोज-रोज पाखाना करना हो तो कितना वुरा लगेगा?" (पृ० ६०) आपके कुछ अन्य ग्राम्य प्रयोग है—'चीन्हा' (पृष्ठ ८६ दो बार), निकियाना' (पृ० ६२), 'पोरिसा' (पृ० १३५), 'कान्हासोती' (पृष्ठ १४१), आदि। एक वक्तव्य है—"जान पडता था, फराडे की विजली —जिसे ग्यारह साल ही पहले (१८४५ ई०) उस वैज्ञानिक ने आविष्कृत किया था—की भाँति एक शक्ति निकलकर एनी के हाथ से उसके शरीर मे दौड रही है" (पृ० ३२२)। दो प्रेमियो के स्पर्श का यह नतीजा है जिसमे एक खास तौर की विजली दौडती है, फराडे वाली, वायुमण्डल की नही। भला फराडे के पहले प्रेमियो मे विजली थोडे ही दौडा करती थी। फराडे के माँ-वाप के भीतर एक-दूसरे के प्रति विजली नही दौडती होगी क्योकि उसे पैदा करने वाले वरखुर्दार स्वय अभी पैदा नही हुए थे! रोमाच और चीज है, फराडे की विजली और! भरे मैदान मे वन्धुलमल्ल 'कचुकी के भीतर से उठे क्षुद्र-विल्व-स्पर्धी स्तनो को' अर्धालिगन करते हुए वोलता है—"और ये तेरे स्तन?" (पृ० १३८) फिर उन्हे अपने 'अगोछे से' वाँधने का प्रस्ताव करता है जिसमे 'दौडने मे यह ज्यादा हिलेगे भी नही।' तोवा कीजिए अभागे वन्धुल के भाग्य पर! 'सुरैया' कहानी मे राहुलजी ने अकवर के मित्रो की गोष्ठी का एक चित्र दिया है जिसमे दोस्त वेतकल्लुफी से मिलते है। वे है जलालुद्दीन अकवर, अवुलफजल, वीरवल और टोडरमल। एक-दूसरे को वे 'जल्लू' (पृ० २८६, २६०, २६२, २६३, ६५), 'फजलू' (पृ० २८६, २६०, २६४ आदि), वीरू (पृ० २८६, २६०, २६२), और टोडू (पृ० २८६, २६० आदि) कहकर पुकारते हे। वीरवल तो एक वार अवुलफजल को 'अवे फजला' तक कहकर पुकार वैठता है। ऐसी वेतकल्लुफी तो साधारण लोग भी नही करते। समझ मे नही आता, अकवर जैसे शाहशाह दरवारी कैसे करते थे। मुगल दरवार अपनी मर्यादा के लिए प्रसिद्ध था।

प्रोजइक स्थलो से तो सग्रह भरा पडा है, देखिए पृष्ठ १८०, १८१, १६३, २६६, ३२२, ३२३, ३२८, ३७६-७७ आदि। फिर भी एक-आध स्थल उद्धृत

पर इसम भी कोई अजब बात नही है क्योकि मारकडेय स्वय अब शहर म रहने लगे हैं जिसस उनकी भावभूमि का स्थानान्तरित हो जाना उचित ही था। इसम कोई बुराई भी नही। कहानियो का शिल्प नए वातावरण के कारण नवयुग के नए शिल्प के बीच पलने के कारण पुराने देहात की भूमि छूट जाने के कारण नए नागर वातावरण के कारण स्वाभाविक ही शिल्प भी जस नागर बन गया है। पर क्या नागर शली मात्र नागर होने से त्याज्य है ?

नही। शिल्प नागर होने स त्याज्य नही नगर के जीवन का एकाकीपन देहात के जीवन स भिन्न जो मिथ उत्पन्न करता है उसम सम्भवत बीच का पग बिना चले आदमी लाघ जाता है। यानी मिथ स मिथुन का सयोग न हो उसकी परिणति मथुन अनायास वातावरण म उठ आता है। यह मथुनजन्य एकाकी साहित्यकार को सवथा सब्जेक्टिव कर देता है जब उसकी कहानियो के कथानक स्वत अपनी सत्ता नही रखते कहानीकार के अर्तानविष्ट हो जाते हैं कथानक की घटनाए उसके विचारचक्र से निकलकर उसके ततुवाय म तनकर मकडी के जाले की तरह अनन्त प्रसूत होती जाती है। कथानक के पात्र जस एकतन हो कहानीकार के स्वकीय बन जाते हैं और उनम तथा कहानीकार म कोई भेद नही रह जाता। माही की कहानियाँ व्यक्ति के एकातिक मथुन की परिचायक हैं एकाध को छोड प्राय सभी सक्सी है। 'सक्स शरीर और उसकी आवश्यकताओ क परिमाण मे आवश्यक भी है अनिवाय भी लाभकर भी। जब वह कहानीकार स परे के आब्जेक्टिवेटेड वातावरण म फूल की तरह खिलता है तब उसी की तरह आकषक और शिव भी हो जाता है क्योकि फूल की सत्ता बडी पर वातावरण की शुष्कता के परिवश म छोटी इसी कारण बहुमूल्य और स्पहणीय भी हो जाती है। सेक्स' अकेला और उचित परिमाण के अभाव म कहानीकार की अर्तानविष्ट सत्ता पर छाकर अशिव हो जाता है उचित परिमाण स बडा अनुपात स बडा और अनुपात का अभाव सामाजिकता का शत्रु है दम्य। माकडेय की य कहानिया उसी परिमाण म सेक्सी हैं उनके एकातिक ऊहापोह म सवत्र प्रदर्शित।

दूध और दवा' इन कहानियो के वग की कहानी नसे नही है क्योकि उसम आज के लखक की कठिनाइया की ओर सकेत है। दूसरी कहानी सतह की बातें मारकडेय की नर्म भूमि पर सेक्सी टान की विलबित रखा है जो माही के पार सूर्या म प्राय चोटी छू लेती है। सूया विद्यालय की प्रधाना होने के पहले जब कालज म पढती थी तभा अपने प्रणयी के प्रति आकृष्ट होकर भी घर के नौकर जगजीत के साथ परिस्थितिवश एकाकार हो चुकी थी। उन्होने नहाते वक्त कपडे उतारकर तन को जब जल से भिगो लिया था तब उन्ह

सहसा नए कपडो की याद आई थी, और उन्होने जैसा ऐसी स्थिति मे अकसर हो जाया करता था अपनी माँ को आवाज दी थी। माँ तो किसी कारण न आ सकी पर जगजीत कपडे लिए आ गया था और उसे माँ समझकर सूर्या ने स्नानागार का द्वार सहजभाव से खोल दिया था। सूर्या नखशिख नगी, जगजीत जैसे उस अनजाने रूप का प्यासा, उसकी आँखे मिनट को अमर करती पीती रही थी। और फिर "तुम्हे यह तिल बहुत अच्छा लगता है न जगजीत।" और "जग्गी कुछ बोलो भी। फिर तुम्हे एक बच्चा······" "जग्गी मुझे लो···· लो जग्गी", "फिर जैसे तूफान की एक ऐसी आँधी चल पडी थी कि दोनो जाने कहाँ उडते चले गए थे। कितनी ऊँची पानी की दीवार उनके ऊपर वह चली थी, हुचुक-हुचुककर· ·" लगा जैसे सोलेम ऐश का 'थ्री सिटीज' पढ रहा होऊँ और ओल्गा कह रही हो "माइ सन्, टेक आल, आल, आल।" और जकारिया कह रहा हो "मम्, गिव आल, आल, आल।" पर कहाँ सात सौ पृष्ठो पर फैले उस कथानक का यह कण-भर रागात्मक भावेतर, परिस्थितियो से मजबूर, कहाँ 'सूर्या' के अठारह पृष्ठो पर छायी यह नग्नता, और यही क्यो, एक और भी तो, सुनील के साथ वाली, जिसमे "सुनील विना किसी सकोच के बाँहो मे भरकर मुझे चूम लेता था और मै बेझिझक उसकी गोद मे बैठकर उससे लिपट जाती थी। कभी-कभी वह हैरान हो जाता और मै उसे नही छोडती। जगजीत ने कई बार मुझे इस तरह देखा और सिर नीचा किए लौट गया।" और यही जगजीत है जो कभी सूर्या के घर का नौकर था जो अब उसके स्कूल का नौकर है और जिससे वह एक बार कह चुकी है—"जग्गी तू यह रुपये ले ले और कही ऐसी जगह चला जा कि माँ तुम्हारा पता भी न पा सके, वर्ना तुम्हारे लिए जान का खतरा है। मेरे पेट मे तुमने बच्चा· ।" ये तो इस कहानी की बुलदियाँ है जिनके शिखर सेक्स चूमता है पर उसका बिखराव तो समूची भूमि पर है जिस पर पहले, कमसिनी मे, सूर्या की माँ का घर है, फिर सुनील और जगजीत द्वारा दूषित खेत के परे स्कूल है, जहाँ न केवल शायद अपने बच्चे का गला घोट देनेवाली, हरामी की माँ सूर्या है, उसका वही जगजीत भी है, जहाँ की प्रधानाएँ वही कुकर्म पहले भी कर चुकी है। गोया लडकियो का स्कूल प्रधानाओ के गैरसामाजिक आचरण का रगस्थल है।

प्रश्न यह है कि यह मात्र सूर्या के व्यक्तित्व का उद्घाटन है, या शिक्षिकाओ के साधारण व्यक्तित्व का निराकरण, या लडकियो के स्कूलो की यही स्थिति है जहाँ इस प्रकार की सम्भावनाएँ अनायास फलती-फूलती है ? इस प्रश्न का उत्तर माँगने से पहले एकाध और समान सदर्भो का उल्लेख यहाँ अनुचित न होगा।

'तारा का गुच्छा' एक ऐसा ही माहौल है जिसमे परिस्थिति फूटकर निकल नही पाती यद्यपि दूसरे का घर फोडने को उद्यत कालेज की क्वारी छात्रा अपने प्यारे के घर चली जाती है शायद बच्चा मागने जो उसे नहीं मिलता, वर्जित मेरी से जन ईसा की तरह का बच्चा प्रमाणत क्वारी स्थिति म ही उत्पन्न बच्चा। 'आदर्शों' का नायक अपने सब्जेक्टिव भावसंचरण म इसी प्रकार अपनी बेटी के नितांत भोले रागात्मक उपक्रम के सदर्भ म अपने अनन्त पापो के अध्याय खोलता चला जाता है जिसमे उसकी कभी की अपनी माया उस दिन और स्थान (डेट) देती है— परसो, रात के आठ बजे! 'आदर्शों' का नायक वह पिता है जो पुत्री के पुनीत भावो के सदर्भ मे सोचता जाता है नियत रात अपनी प्रेयसी के पास साथ चलता है— मैंने उसकी पीठ के पीछे से बाँह डालकर उसके एक सीने (सीना तो मेरी समझ म एक ही हुआ करता है जिसम स्तन दो होते हैं।) को हाथ म लिए उसे बगल म सटा लिया। रिक्शा चलता गया। कालेज के ऊपर के ढलवान पर चढकर एक सूना-सा मकान था। मैंने रिक्शावाले को निकालकर दो रुपये दिये यही रुककर रिक्शा ठीक करने का बहाना करते रहो अभी आया। दो रुपये और दूगा। और हम दोनो उसी अधकार म खो गए। आधा घटे बाद किसी तरह माया को सभालकर मैं रिक्शे तक ले आया।'

प्रधान कहानी इसी परम्परा म सुर्रियलिस्टिक फन्तेसी से शुरू होकर जब धुधलके से धीरे धीरे प्रकाश म आती है तब पता चलता है कि विवाहिता का हमल उसके पति का किया नहीं नीरा के पति के मित्र अपने प्रणयी परेश का है। मूर्च्छावस्था म नीरा कहती है— 'नहीं परेश अब रहने दो मुझे कोई डर नहीं परेश! दशन (नीरा का पति) बिल्कुल नाराज नहीं होगा। मैं बचपन म ही सोचती हूँ कि माँ बनूँ और निगा बच्चे के साथ खेलूँ।' इस परम्परा की पराकाष्ठा संग्रह की अंतिम कहानी 'आवाज' है। जरा पढ़िए— 'यह क्या तमाशा है? जरा अपनी शक्ल देखिए शीशे म नीरा कुछ दूर से ही बोली। मैंने लपककर उसके पाँव पर हाथ रख लिया, 'नीरा माफ करो मुझे गलती हुई। मणि के बिना मैं भी नहीं रह सकता मैं भी और नीरा ने मुझे बाँहों म समेट लिया। हम वैसे ही सिमटे बिस्तर म जा पड़े और पड़े रहे। लेकिन थोड़ी देर बाद ही नीरा कसमसाकर उठ बैठी। और मेरी टाँगें छोड़ पड़ पड़ के नीचे अंडरवियर रहा है नीरा रुको लेकिन नीरा माना नहीं और मैं उसकी जाँघो को अपने दोनो पैरों म कसकर उसकी गोद म लुढ़क गया।

हूँ। मैं साथ उसका का ली

मेरा धारा रहा न रहा।

यद्यपि इसी कहानी का एक स्थल इससे कही वीहड है—"कल उस लडके को देखकर सारी कक्षा के लडके कितने हँसे थे, एक मैं ही था जो खामोश रह गया था। और वह लडका सामने का (नेकर के सामने का) एक वद वटन ही खोलकर मेरे ठीक सामने खडा हो गया था, 'हँसता क्यो नही वे ... ननखा!' और आप विश्वास नही करेगे पर मै आज तक उसकी शक्ल नही भूला, जो उसके नेकर के नीचे था।"

मैंने ऊपर 'सूर्या' कहानी की चर्चा के अत मे कुछ प्रश्न किए है, पर क्या फिर भी उनके उत्तर की आवश्यकता होगी? परिस्थिति की परवशता यदि इन आलेख्यो का कारण होती तो सम्भवत. इन प्रश्नो का कुछ अर्थ भी होता, लेकिन जब कहानीकार की रुचि ही उनसे वँध गई है तो क्या इस सदर्भ मे वर्ग्सों की 'दि थिग-इन-इटसेल्फ' की परिकल्पना क्या स्मृति मे मूर्त नही हो आती? प्रकट है कि भोग की साधिका नारी कहानीकार के सर्वांग को सम्मोहित कर रही है और सग्रह के आवरण पर रेखाकित उस नारी का नग्न ऊर्ध्वार्ध अकारण नही हे जिसका निम्नार्थ परोक्ष है और जिसकी एक लट 'माही' और 'मार्कडेय' के बीच लटक आई है, और जिसका दाहिना हाथ उठकर दाहिने स्तन का ऊपरी परवेश माप रहा है।

२

इन्हें भी इन्तजार है यह शिवप्रसादसिंह की लिखी वीस कहानियो का सग्रह है। कहानियाँ सुन्दर हे, इन्ही की परम्परा मे लिखी, प्रेमचन्द की परम्परा मे, देहात के चित्र है। आज के कहानी-लेखन मे देश के प्रति एकागता —मतलब समन्वित एकाग्रता से है—कम दीखती है। या तो गाँव से उखडे मात्र शहरो के चित्र देखने मे आते है अथवा नागरिक जीवन से विरहित केवल गाँवो के। नगरो के सान्निध्य मे लिखते हम शायद गाँवो का अस्तित्व भूल जाते है और देहात के चित्रो मे नगर का अस्तित्व सर्वथा आँखो से परे हो जाता है। इधर हाल मे गाँव के सम्बन्ध मे जो उपन्यास और कहानियाँ लिखी गई है उनमे न केवल देहात के चित्रो की वाढ आ गई है वल्कि वोलियो का उपयोग भी भाषा मे इस मात्रा मे हुआ है कि आचलिकता ने जैसे खडीवोली को दवोच लिया है। तद्भव का प्रयोग प्रशसनीय हे, सम्भवत तत्सम से अधिक प्रशसनीय, पर वह खडीवोली के ही क्षेत्र मे, वोलियो के प्राधान्य मे नही। मुझे प्रसन्नता है कि 'इन्हे भी इन्तजार है' की कहानियो के लेखक ने अपनी भाषा मे वह स्पृहणीय सतुलन कायम रखा है जो इधर की अनेक कृतियो मे उपलब्ध नही। उसकी भाषा, हल्की-फुल्की, लहराती हुई चलती है और

उसके अचल म देहाती जीवन क फूल अनायास खिल्ते चल जा हैं। भाषा और भाव। का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है 'गमयाय सम्बन्ध भी जिसकी ओर कालिदास ने 'रघुवश के पहले श्लोक म ही 'वागर्थाविव सपृक्तौवागर्थप्रतिपत्तय म सकेत किया है। सग्रह की कहानियों क कथानक अनुरूप सहज भाषा द्वारा मुखरित हुए हैं।

भाषा की बात कहते मुझे शिल्प के सम्बन्ध म आज क हिन्दी लखकों क एक दृष्टिकोण का ख्याल हो आता है। पेंच की भाषा का मुझे लगता है शिल्प की सज्ञा दी जाने लगी है। शिल्प पेंचकार है अथवा साज इसका अतर प्रस्तुत न कर मैं स्वय शिल्प की बात कहना चाहूँगा। शिल्प विधि है विधा नही साधक है साध्य नही यद्यपि साध्य वह जहाँ शब्द ही इष्ट हो, हो सकता है। कथानक के साहित्य म शिल्प की स्थिति अभिव्यक्ति क माध्यम और साध्य क आधार क रूप म गौण है कम स-कम साध्य स गौण। भाषा अच्छी बुरी अभिव्यक्ति के आधार रूप म किसी रूप म भी ग्राह्य हो सकती है, यद्यपि साहित्य के सदभ म उसका सुरुचि से मरलित, विषय के अनुकूल सचयित आवश्यकतावश अलकृत होना सहज है। भाषा जब अपने मूलाधार से उठ सस्कारपूत हो मडन के विकार स सयुक्त होती है प्रकृत को गुणो स युक्त करती है तब उसका स्वय भी मडन क सभार स प्रसाधित हो जाना अनिवाय है। सम्भवत इस ही लोग शिल्प कहगे, यद्यपि मैं भूलता नही भाषा ही मात्र शिल्प नही है अभिव्यक्ति का समूचा आवयवीय सगठन ही शिल्प मे समाविष्ट होना ह। शिल्प की व्याख्या चाहे यह अधूरी अथवा समस्त हो इसम सन्देह नही कि शिल्प केवल विन्यास-कल्प है न तो मदिर का गभगृह है न उसका देवता न देह न उसकी आत्मा। फिर भी मात्र अलकरण से भिन्न वह अपनी रचित अभिव्यक्ति का वाहन होने स अभिन्न है यद्यपि फिर भी न उससे विशिष्ट है न उसकी समकक्ष। केवल शिल्प अथवा अधिका धिक शिल्प साध्य को आवरण म लुप्त मात्र कल्पनाजन्य कर देगा हेत्वाभास क रूप म स्वय वाहन आरोही पर आरूढ हो जाएगा।

मुझे याद है एक बार प्रमचन्द के स्मारक दिवस पर बोलते हुए डाक्टर उपाधिकारी आलोचक ने कहा था कि प्रमचन्द असाधारण कहानीकार हैं यद्यपि उनकी भाषा प्रसाद की सी कलात्मक नही है। मैं जाना की इस तुलना से स्तब्ध रह गयी। प्रकट है कि इस दृष्टि म कला की परख का सवथा अभाव है जो यह नही समझ पाती कि सहज अथवा प्रसाद कम्प्लक्स की चरम परिणति है और कि प्रेमचन्द की अनायास वह चलनेवाली भाषा सहज अनुभूति और उस सधे सतुलित विनय (डिसिप्लिन) का परिणाम है जो प्रसाद की कृत्रिम भाषा से कोसो दूर है *यद्यपि प्रसाद' की कृत्रिमता*

जिस अनजाने ससार का आभास उत्पन्न करना चाहती है उनके लिए सभवत वह भाषा अनुपयुक्त नहीं। शिवप्रसादसिंह के शिल्प के सम्बन्ध मे एकाध बार मुझसे शंका की गई है जिसमे, प्रसगत, मुझे शिल्प-सम्बन्धिनी भाषा अथवा भाषा-सम्बन्धी शिल्प के विषय मे मुझे यहाँ कुछ कहना पडा। शिवप्रसादसिंह की भाषा, उनका शिल्प, उनके प्रतिपाद्य के सर्वथा अनुकूल है, प्रशस्य।

अब कहानियाँ। गाँवो के चित्र इनमे खुलकर आए है और उनके पात्र उतने ही सजीव है जितने उनके एकैक व्यक्तित्व की पहचान सहज है। लगता है, जैसे, नन्हो को, कबरी को, दीनू और कबरी को, लखीलाल, बेलभद्दर को हम कब से जानते हैं। नन्हो धोखे से अपाहिज को व्याही 'हिया' रखने वाली गृहिणी है जो अपने रोग के भार को जिन्दगी-भर ढोता है, एकान्त और एकात मे फलने वाले अवसरो मे भी सयम द्वारा उस कमजोरी को, अभिमतजन के सान्निध्य और उसकी 'प्रार्थना' के बावजूद, जीत लेता है जो उस स्थिति मे साधारण नारी के सयम का बाँध तोड देती। 'पचतन्त्र' मे इसी स्थिति को व्यक्त करते हुए अपनी तब की भाषा मे, तब की परम्परा मे, विश्वास मे अनुभव से कहा था कि यदि स्थान उपयुक्त है, समय का अवसर प्राप्त है, तब भी यदि नारी आत्मसमर्पण नही करती तो केवल इस कारण कि उसके निकट 'प्रार्थयिता नर' नही है—'नास्ति प्रार्थयिता नर'। 'बेहया' एक व्यग्य है, एक बदला, जो बोकाचो के 'देकेमर्शों' की एक कहानी की याद दिलाता है, यद्यपि इससे यह निष्कर्ष कतई नही निकालना चाहिए कि कहानीकार किसी अश मे बोकाचो का ऋणी है। 'भरहला' जहाँ खुल-खुलकर जीवन की सादगी चित्रित करता है वही उसके विपरीत उस दिलदार औरत को भी निरावृत करता है जो गाँव की परिचित सीमाओ मे बँध नही पाती और उसे लाँघ 'मामूल' से विरत हो 'गैरमामूल' की ओर निकल जाती है, ड्राइवर के उस आकर्षण को प्रकट करती हुई जो गाँवो की सूधी निम्नवर्गीय नारी को बरबस खीचता है। 'इन्हे भी इन्तजार है' डोमन कबरी का समूचा जीवन नगा अभिव्यक्त करता है, तन के रोम-रोम, पौध के पोर-पोर। जिसने गाँव मे श्राद्ध आदि के अवसरो पर करन्नो को जूठी पत्तलो के लिए कुत्तो से, स्वय अपनो से जूझते देखा है उसके लिए चित्रण मार्मिक है, यह जानकार ही जानेगा, और जिसने नही देखा उसके लिए निश्चय यह असाधारण वर्णन चित्रो का एक सही 'पैनोरमा' प्रस्तुत कर देगा। 'टूटे तारे' अच्छी नही लगी, यद्यपि विस्मय की भूमि इसमे गढी गई है। 'सुबह के बादल' मुझे बडी मार्मिक लगी, जिसमे भाषा और कथानक दोनो अन्योन्याश्रित बढते है और गाँवो के जीवन की सहानुभूति, उसके खेल, हँसी और अवसाद खुलते चले गए है। 'आखिरी बात' बैठकबाजी की एक झलक प्रस्तुत

करती है कमजोर है। बहाव वत्ति का बिहारीलाल शहर वालो के लिए उस दुनिया का राज खत्म करता है जो उनका अनजाना है। उसका भोंगडपन' उसके जीवन पर इतना हावी है कि उसके अपने आकषण के प्रति जिद उसे हमम उसके लिए एक प्रकार की श्रद्धा उत्पन्न कर देती है यद्यपि पात्र वह घिनौना है। कहानीकार ने कहानी का यह नाम क्यो चुना समझ म नही आता क्योकि वत्ति इसम वस्तुत मात्र एक है शाखामृग स सवथा भिन्न जो नाम शायद शाखामृग कहानी क लिए ज्यादा फबता। बहाव वत्ति और शाखामृग' के शक्तिम चित्रणा के बीच एक कमजोर कहानी धूल और हसी आ गई है। गावो म एकाध ऐसे अवसर हो जाते है जिन्हें कोई पेशा पकड नही पाता पर जो हर पेशे को पकड लिया करते है और उसी के माध्यम स सूधे लोगो पर अपने व्यक्तित्व का जादू डालते हैं। शाखामृग का नायक लखौलाल कुछ ऐसा ही है जो नए पेशो के चुनाव से निरन्तर गाव म चमत्कार उत्पन्न करता हुआ भी जमा स्वाभाविक भी है निकम्मा पहचान लिया जाता है और वेल्भद्दर तक जिसकी शादी करने की साध आखीर तक बनी रहती है उसके राज को समझ लेना है और उसकी खुद की दुगति पर हसता है जो लखौलाल की भाडे की बीवी कर दता है।

परवटी तितली की कमजोर कहानी उन्ही भारतीय फिल्मा की याद दिलाती है जिनम अचानक अकारण असभाव्य दशा म नायक नायिका एकत्र हो जाते हैं भगे मन्का पर भा एकान्त का नाटय करत रोमाचक आचरण करते हैं और उनसे अथवा फिल्म निर्माताओ से कोई पूछ नही पाता कि आखिर जानी हुई दुनिया म ऐसा कहा होता भी है ? पर कटीतितली' म शायद कहानीकार से कोई पूछ न सके कि कहानी का मैं मह से बचने जब घर की देहली म खडा होता है और उसे घर की मालकिन कमरे म बुलाकर चाय पिलाने लगती है अपने बनाए चित्रा का प्रदशन करने लगती है और जसे भक्कर गायन द्वारा उसका मनोरजन कर चलती है जिससे पीछे क कमरे म पडा उसका रुग्ण और अपाहिज पति भी चौंक पडता है शायद फिल्म निर्माताओ की तरह कहानीकार स भी नही पूछा जा सकता कि यह सब क्या दुनिया म होता है कि मन्ज यह आपकी कल्पना का राज है जिसे आप उम्मीद करते है कि पाठक भी अपना सहज बुद्धि ताक पर रख समझे और शायद आपकी हा तरह अपनानुमा रम्य मान ले। 'खल' फिर एक लचर कहानी है जिसम मरहूम का—जिसे कहानीकार मदत्र 'महूमा' लिखता है (पृ० ६१ १२४ १३० पर क्या एमा की कमा है जो 'महरूम' की जगह मरहूम आल्त हैं ?) —अविराम लम्बा करक एक अयन्त साधारण परिस्थिति चित्रित की गई है। 'टर गाशे का तस्वीर कहानिया क इस ग्राम्य कलवर म एक नागर अन्दाज

डालती हुई नजर आती है जो 'सटल' होती हुई भी मुझे जँची नही, यद्यपि उसमे कामिनी का व्यक्तित्व सामान्य से भिन्न है। 'वीच की दीवार' सवल कहानी है और मुझे जिद्दी छोटे भाई की कैफियत पढ गाँव की ठीक एक ऐसी ही स्थिति याद आई जिसमे वडा भाई छोटे भाई से आजिज आकर पूछता है, अच्छा तू वता दे एक मे रहेगा या मुझसे अलग रहेगा, और छोटा भाई उसी चोट के साथ लौटकर कहता है, न मैं एक मे रहूँगा न अलग रहूँगा, मैं तुम्हे डाहूँगा! 'खैरा पीपल कभी ना डोले' गाँव के अनेक चित्र एक साथ चित्रपट पर फेकता है और 'कर्ज़' मे कुटुव के भाइयो का परस्पर प्रेम इस तरह कुछ वन गया है कि प्रेमचन्दजी की याद आ जाती है, केवल उनके कथानक के प्रसग की। 'अधकूप' गाँव के आवारे की कैफियत प्रस्तुत करता है, साथ ही सामाजिक दुरभिसधि से प्रसूत सास-वहू का क्रूर चित्र भी। 'धतूरे का फूल' फिर गाँव की जमीन मे शहर की कलम है, जिसमे मास्टरजी के सूक्ष्म प्रतिवोध से किशोरी वेटी तो अपने रूप के सम्वन्ध मे सजग हो ही जाती है, प्रौढ़ा भी 'मास्टरजी' के प्रति विचल हो उठती है। 'आँखे' सग्रह की सवसे अच्छी कहानियो मे से है। दर्दभरा माहौल हे जिसमे सुजनता और समाज का डर एक साथ पलते है, घृणा और सेवा के भाव एक साथ पनपते है। कहानी ने शहर का जीवन नगा कर दिया है—जीवन जो अधिकतर परिणामत जीवन है, मजवूरियो मे घुटा।

कुल मिलाकर कहानियाँ वहुत सुन्दर हैं, मुझे अच्छी लगी। कहानीकार को यद्यपि मुवारकवाद देते वक्त यह भी सुझाने से नही चूकूँगा कि सारी अच्छी-वुरी कहानियाँ एक साथ समूचे जीवन की रचनाओ के वर्गीकृत खडो मे एकत्र चाहे प्रकाशित निभ जाएँ, पर कोई तुक नही कि आप आकार के मोह से अच्छी-वुरी दोनो को समान सग्रह मे नथ दे।

१२

अपनी खबर

व्यक्ति के सामाजिक स्तर पर व्यक्ति की आपबीती समाज की भी आपबीती हुआ करती है। जिस मात्रा म व्यक्ति निर्वैयक्तिक होकर समाज म क्रियाशील रहता है उसी मात्रा म उसकी आपबीती समाज के जीवन का भी प्रतिबिम्ब हुआ करती है। जूलियस सीजर से लेकर कामागाता मारु गाधी नेहरू श्रीमती पण्डित राजेन्द्रप्रसाद तक की सभी आपबीतियों का यही तथ्य है। और इस तथ्य की प्राणवान् तथ्यता बस इसी म है कि उसकी तथ्यता को आँच न लगे। जीवन स्वय एक प्रकार का बप्तिस्मा है और आपबीती लिखना तो वस्तुत आग्नेय बप्तिस्मा है—

अपनी खबर पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की आपबीती है। 'अपनी खबर' में जीवन को समसामयिक जीवन को विगत घटित जीवन को स्वरूप देने का प्रयत्न उग्रजी ने किया है और उस प्रयत्न म वे सफल भी हुए है। उग्रजी हिन्दी के मान्य लेखक हैं। पिछली आधी सदी म साहित्य और पत्रकारिता के क्षेत्र म कर्मठ रहे हैं और उन्होंने उसी सावधि ससार को अपने माध्यम स इस आपबीती म अशत उद्घाटन किया है। भूत का उदघाटन अक्सर लोग उसके गौरवीकरण के लिए करते हैं। वस्तुत उसका उद्घाटन ऐतिहासिक निर्माण के लिए होना चाहिए जिससे पाठक उस जीवन को उसके चित्रपट को बीती घटनाओ के 'पनोरमा' को फिर स देख ले।

यदि घटे जीवन को आपबीती के माध्यम से दिखाना लेखक का मन्तव्य हो विगत का यथातथ्य फिर स निर्मित कर देना उसे अभीप्ट हो तो उसकी 'आपबीती' नि सन्देह सत्यानुभूति ईमानदारी से निरावृत प्रक्रिया होनी चाहिए। बेशक, 'अपनी खबर' उस सत्यानुभूति और ईमानदार प्रक्रिया का प्रमाण है। हाँ इस सम्बन्ध म दो एक बातें भूलनी नही चाहिए। एक तो यह कि व्यक्ति जब आपबीती लिखता है तब साहित्य की विधा भाषा और विषय की ही भाँति उसकी बुद्धि और वृत्ति चयनात्मक होता है। वह कुछ चुनता है कुछ—

वस्तुत बहुत-कुछ—छोड देता है । छोड इसलिए देता है कि सारा इस उपक्रम्य साहित्य के लिए सहायक, रसपोपक अथवा सदर्भानुकूल नही होता, इसलिए कि व्यक्ति अपनी अनेक स्थितियो को उन्ही के डर से व्यक्त नही करना चाहता; इसलिए भी कि अन्य कुछ उसकी प्रतिक्रिया से प्रतिकूल प्रभावित होते है या मेल विठाये होते हैं । कुछ अश तक सम्भवत इसलिए भी कि वह छोडा हुआ तथ्य आपवीतीकार को अप्रतिम कर देता; उसके अहम् को वह आकृति प्रदान करने मे महायक न होगा, पाठको पर वह प्रभाव न डालेगा, जिसकी वह अपने इस कृतित्व के माध्यम से अपेक्षा करता है । पुस्तक पढने से प्रकट होता है कि उग्रजी की यह आपवीती आपवीतियो के इस सार्वभौम स्वरूप से विरहित नही है । कितना छोडा गया है, कितना कहा गया है, सचयित और सत्यजित मे क्या अनुपात है—यह न तो मेरा जाना है, न मुझे जानना या कहना अभीष्ट ही है ।

आपवीती, अहम् का एक प्रकार से, एक मात्रा मे, उपवर्हण है । साहित्य की इस विधा को चुनना ही इस भावबोध का प्रमाण है । इस विधा की सफलता व्यक्तित्व के राज को रहस्य से चमकाने और व्यक्ति के स्वार्थ तथा उससे सम्बन्धित फूहडपन—(जो अपने वारे मे कहने के साथ ही रूप धारण करने लगता है) को छिपा रखने मे है । व्यक्ति का आत्मविश्लेषण, सामाजिक विपमताओ, कुरीतियो, अन्यायो के साथ-साथ आत्मनिवेदन (तव अपनी कम-जोरी सामूहिक स्थिति का अग और क्षम्य वन जाती है, आत्मालोचन का मायावी आभास उत्पन्न करती है) तव उसका औदार्य वन जाता है—सामाजिक गुण । वस्तुत. पाठक-आलोचक को आपवीती के अध्ययन-क्रम मे यह भी देखना चाहिए कि लेखक, दरअसल, किस अंश मे उदार दिखाई पड़ने वाले तथ्य-निरूपण के निकट या दूर है । प्रस्तुत आपवीती ने तुलसीदास के माध्यम से 'दिग्दर्शन' के रूप मे जो अपने प्रतिपाद्य सकल्प के आरम्भ मे 'प्रतिज्ञा' दी है—"मैंने क्या नही किया ? किस-किसके आगे मस्तक नही झुकाया ?· ·आशा के जाल मे फँस, 'योर मोस्ट ओवीडिएन्ट सर्वेंट' वन· मैंने द्वार-द्वार, वार-वार मुंह फैलाया दीनता सुनाने,·· भोजन और कपडे के लिए पागल वना मै यत्र-तत्र-सर्वत्र झक मारता फिरा, प्राणो से अधिक प्रिय आत्मसम्मान त्यागकर खलो के सामने मैंने खाली पेट खोल-खोलकर दिखलाया ।"—वह प्रतिज्ञा आगे के प्रसगो के उद्घाटन और आत्म-वर्णन के आर्जव से प्रमाणित होकर सिद्धान्त वन गयी है, यद्यपि इसमे सन्देह नही कि प्रक्षेपण से परे होकर भी, आपवीती के माध्यम के वावजूद, परोक्ष, दुरित होकर भी, वे स्पप्ट अथवा तर्कानुमानित घटनाएँ उस अवमान्य स्थिति को न विशेप छिपा ही पाती हैं न उसे आदृत ही कर पाती है । पर क्या इतना कह देना भर यहाँ पर्याप्त न होगा कि जिस सादगी से उग्रजी ने

सचित घटनाओ के ब द खोले हैं जिन सजीव और प्रवहमान गद्य म उन्हें वर्णन-स्रोत म डाला है वह सान्निध्यावस्था का गद्य शिल्प है। और आपबीती यदि साहित्यकार की है तो नि सन्देह अधिकाधिक हम उसके शिल्प को उसके कृतित्व और उसकी प्रक्रिया म खोजेंगे।

अपने साथियो के प्रति प्रतिक्रिया का जीवन म घटी घटनाओ की भाषा से आपबीती म रूप धारण कर लेना स्वाभाविक है। वयस्य की सामाजिक पदवृद्धि को वयस्य एक विशेष मुद्रा से रागाराग की प्रतिक्रिया से देखता है। वयस्य काल के प्रसार के बावजूद वयस्य का अपना दशक। पहले की ही रूप रेखा म आकार प्रकार म देखता है काल का प्रसार देखता है जो साधारणत उससे भिन्न जनता की स्वाभाविक प्रक्रिया नही है। साधारण जनता तो लेखक के वयस्य को उसके प्रभामडल के साथ देखती है चाहे वह प्रभामडल लेखक के लिए आलोकपुञ्ज न हो। श्री कमलापति त्रिपाठी के सदभ की लखनीय प्रतिक्रिया सभवत कुछ पाठको को न रुचे पर निश्चय व्यक्तिगत तुलनात्मक दशन और रागात्मक प्रतिक्रिया के बावजूद उग्र का वह अपना दशन है जो इसे भी दर दवे घोषित करने मे नही चूकता—फिर भी कहा वह कहाँ मैं।

निराला के सम्बन्ध की अपनी प्रतिक्रिया भी जो प्रवेश और पूरे पाठ दोनो म लिखी गयी सभवत लेखक की उसी चेतना को प्रकाशित करती है। उग्रजी के यथोचित सम्मान का अभाव भी सभवत इसका कारण हो सकता है पर बेशक उनके अपने मानदड म निराला के व्यक्तित्व का आकार उनके जाने हुए अपने बोध के अनुसार ही हम स्वीकार करना होगा। हम उसमे चाहे निराला के सापादपुरुषकाया के अनुकूल अपनी भावना के अनुसार आस्था रखें। श्री त्रिपाठी के प्रति अभिव्यक्त उग्रजी की प्रतिक्रिया से साहित्यकार के नाते हम कुछ दुखी हो उठते हैं। राजनीति की तथाकथित ऊँचाई को साहित्यकार क्यो प्रमाण माने ? उस ऊँचाई को हस्तगत करने के लिए हमे किन किन उपायो का, किन किन असमर्यादाओ का अवलबन करना पडता है ? गर्वोक्ति से भी प्रतिष्ठित उग्रजी की आपबीती का वह प्रसग साहित्यकार का पद कोई हमसे पालिटिक्स मे भिडाए ! वाले राजनीतिक खिलाडी के पद से हय कर देता है। उस प्रबल वाग्धारा की—उस पलरूप वाग्मिता की जो लेखक ने अपनी आपबीती के पृ० ११८ से पृ० १२२ तक बहायी है—वस्तुत आवश्यकता नही थी। वह प्रसग सवथा प्रसगेतर न होते हुए भी अकारण है आत्मपरक।

उग्रजी हिन्दी के शलीकार है। गद्य की ऐसी सबल शली कितनो ने लिखी है ? यह आपबीती भी उस सरल शक्तिम शली का प्रमाण है। यह प्रखर—शीलवान नही कहूगा—लेखक कवि उपन्यासकार नाटयकार कहानीकार तो

जाना हुआ था, पर वह इतना सुन्दर, इतना आकर्षक स्वकथाकार भी होगा, इसकी आशा मुझे इतनी न थी। उपन्यासकार होने के कारण ही इस आपबीती मे भी उसके अनेक चरित्र सुस्पष्ट बन पडे है—बच्चा महराज, भानुप्रसाद तिवारी, राममनोहर दास, नागा भगवतदास, सामाजिक तथ्यता की दृष्टि से चरित्र हैं।

नाटक-मडलियो का जो समुचित चित्र उग्रजी ने हमारे सामने रखा है, वह हमारा जाना नही है। पर उन्होने उसे भुक्तभोगी होकर लिखा है। उन्हे सीता बनना पडा है। नाटक-मडलियो मे जहाँ पुरुप ही नारी बनता है, पुरुप की दुर्गति हुए बिना कैसे रह सकती है ? जहाँ मात्र पुरुपो या मात्र नारियो का समुदाय रहता है, वहाँ पुरुपो मे नारीत्व अथवा नारी मे पुसत्व की स्वाभाविक प्रक्रिया होती है। हमारे स्कूल, साधु-सस्थाएँ, जेल, नाटक-मडलियाँ, पुलिस, नर्सो के वासस्थान इसके प्रमाण हैं। फिर, जहाँ पुरुप होकर भी नारी बनने का कार्य होता है, उसकी स्थिति समझी जा सकती है। इस देश मे पुरुष होते नारी बनने की प्रक्रिया गर्व से की जाती है, प्रव्रजित साधु—सूर आदि तक —इससे वचित नही है। जहाँ पुरुप कृष्ण को पति और अपने को प्रिया नारी बनाकर सखी-समाज की कल्पना करता है, वहाँ भला इस समाज-विरोधी प्रवृत्ति का अभाव क्योकर हो सकता है? नाटक-मडलियो का यह घिनौना तथ्य भुक्तभोगी लेखक ने खोलकर रख दिया है।

उग्रजी की इस आपबीती का नाम है 'अपनी खबर'। यह प्रश्न स्वाभाविक ही हो सकता है कि क्या वह सचमुच ही 'अपनी खबर' है ? इसमे यथानाम होकर लेखक ने क्या वास्तव मे अपनी खबर ली है ? शायद नही। अपना वर्णन इसमे जरूर है, खासा साहस के साथ वर्णन है, पर मैं नही समझता कि इसे हम अपनी खबर लेना कह सकते है। इसमे एक और स्थिति का बोध हमे अपेक्षित होता—समसामयिक साहित्यकारो का प्रतिभासित, प्रतिबिंबित जीवन। आपबीती, सही है, व्यक्ति की अपनी बीती है, पर समाज मे व्यक्ति की अपनी बीती सर्वथा अपनी ही बीती किसी अश मे नही होती। वह एक वातावरण मे, जिसमे हम-आप सभी होते है, मूर्त होती है।

व्यक्ति केवल व्यक्ति नही है, यदि वह समाज की इकाई के रूप मे, साहित्यकार जगत् की इकाई के रूप मे निरावृत नही है तो उसका प्रयास अधूरा है। व्यक्ति अपने मे नगा होता है, और नगे व्यक्ति को देखना एक घिनौनेपन का अग बनना है। लियोनार्दो ने सही लिखा है कि नगापन स्तुत्य नही है, कि वस्तुतः यदि इद्रियो से सनाथ व्यक्तियो के मौखिक सौंदर्य और आकर्पण की बात न हो, नगेपन के आकर्पण पर निर्भर करना हो, तो विधाता को अपनी छेनी ही रख देनी पड़े, सृष्टि ही रुक जाए। गरज़ कि व्यक्ति, जैसे परिधान के बिना नगा

है वस ही साहित्यकार भी जब आपबीती लिख रहा है तब उसमे सावधि साहित्यिक समार भी अपन स परे का अपने सामन का, चित्रित कर। अपनी यत्र इस पक्ष मे कुछ कमजोर है। हम चाहते हैं कि मतवाला 'विक्रम', आदि का ससार बबई के फिल्मो के वातावरण का उसम साहित्यकारा के उदय अस्त का समार प्रतिबिंबित ही नही जरा खुलकर आया होता।

फिर भा यह आपबीती जसी है अपने म खूब है। उसकी भाषा शली, अभिव्यक्ति अत्यत सरल प्रवहमान और आशुधाय है। स्वय लेखक का प्राय सर्वांग पुरोहित परिवार के कठिन साधनाभाव के जीवन से उठकर अपने अद्यावधि क आकार तक इसम खुल पडा है। हम इस दिशा की इस स्वादु आपबीती का स्वागत करते हैं और जिस सुरुचि से इसके प्रकाशका ने इसका प्रकाशन किया है उसके लिए उनका साधुवाद करते हैं।

१३

शिखरों का सेतु

प्रस्तुत सग्रह शिवप्रसादसिंह के निवन्धो का है, यद्यपि उन्होने उन्हे 'गद्य-कृतियाँ' कहा है, और नही जानता उन्हे मेरा निवन्ध कहना लेखक को रुचेगा या नही। निवन्ध कुल २२ है और चार वर्गो मे विभक्त हैं—१ अतीत के तोरण, २. अवोले वोले, ३ पुष्प के अभाव मे, ४ निर्वन्ध चितन। इनमे तीसरा अनुभाग—पुष्प के अभाव मे—सर्वोत्तम है, क्योकि इसकी भाषा, भाषा है, आशुधार्य, समझने के लिए लिखी गई। निर्वन्ध चितन के निवन्ध 'चितन' कम हैं, 'निर्वन्ध' अधिक। आरम्भ मे जो सकलन की भूमिका निवन्धो की परिचयात्मक भूमि प्रस्तुत करती है, और जिसका शीर्षक सामान्य को असामान्य रूप से कहने की परिपाटी मे 'आशावध' दिया गया है, वह स्वय निवन्ध है। भाव उलझे होने के वावजूद, वह, असामान्य शव्दो के वोझ से, चितन का आभास प्रस्तुत करता है। इस शैली मे जैसा अन्यत्र भी उसके निवन्धो मे प्रकट है, पाश्चात्य दर्शन-विवेचन के समानान्तर वुद्धि-प्रकाश हुआ है, जिसके 'कूट' को समझने के लिए मूल अग्रेजी शव्द भी अवसर दे दिए गए है (देखिए पृ० ८ और १२—आशावध, पृ० १३, १४, २१, ४२, ४३, ४७ आदि)। महत्तर के विन्यास को अपने परिवेश मे भर अपने को भी पाँच सवारो मे गिनने की यह अदम्य प्रवृत्ति हममे से अनेक मे है, जिससे लेखक वचित नही (देखिए पृ० १२)।

अव जरा शैली पर एक नजर डालें। मैंने उलझे हुए विचारो पर असामान्य शव्द-ध्वनि का वोझ लादने की ओर ऊपर सकेत किया है, नीचे उनके कुछ उदाहरण दे रहा हूँ—

"प्रकृति और मनुष्य के वीच सघर्ष को मिटाकर एक सतुलित समतोल-समवाय स्थिति लाने मे विज्ञान का योगदान अतुलनीय है, किन्तु विज्ञान की आतरिक प्रकिया के सही ज्ञान और उसके द्वारा होनेवाले परिवर्तनो के वास्तविक स्वरूप की जानकारी के अभाव मे हम जीवन के ऊपरी

सतह पर होनेवाले वीचि विवत को ही सत्य स्वीकार कर लेते हैं। (आशावध पृ० ६)

इन यात्रा स्कचो के अतीत और भविष्य की परस्पर विरोधी दिशाओ म लम्बायमान छायाओ का सम्मुच्चय-सयोजन भी दिखाई पडेगा जो इन्ह कवल ऐतिहासिक घन चित्रो का कटा कबन्ध ही नही बनाता बल्कि जीवित व्यक्तित्व भी प्रदान करता है। और श्मशान तो मानो मृत्यु के काले पटल पर मनुष्य जाति की पूवापर आगत अनागत अस्ति आदि की विकास-यात्रा का कच्चा चिट्ठा ही टाक दिए दे रहा है। (वही पृष्ठ १०)

यह प्रशस्ति वाचन यदि आलोचक करता तो कही अधिक समीचीन होता यद्यपि उसके लिए भी उद्धरण के अतिम वाक्य म दिए का इस्तमाल समझ सकना शायद कठिन होता अस्ति आदि की बात अलग है।

शब्दो के कुछ उपयोग अजीब और अथहीन भी हुए हैं जसे बाह्य फलक का गवाक्ष (आशावध पृ० ५) न रतरिक प्रयत्न गवाक्ष पारदर्शी (वही पृ० ८)—गवाक्ष तो सम्भवत गाय की आख या खिडकी के रूप म आरपार शून्य होता है क्या उसे पारदर्शी कहना उचित होगा? साहित्यिक मगोत्र के चिन्ता शिखर (वही पृ० १०) नव दुर्गा की साकार सम्मिलित प्रतिमा का पजीभूत घनविग्रह (पृ० १०) तो विद्वान को भी चकित कर देंगे। अनुमान लगाया (पृष्ठ १३) की जगह शायद अनुमान किया अथवा या अन्दाज लगाया ठीक होता। सम्भवत तारा के लिए रेशमी दीवारो (पृष्ठ २७) कहना सम्भव न रहा होगा क्योकि रेशम का आविर्भाव उस काल न होने से उसकी सूचना काल विरुद्ध दोष उत्पन्न करेगी। आश्वासन भरे स्वरो म पूछा (पृष्ठ २६) यह बहुवचन क्या? हिरण सा (पृष्ठ ३४)—हिरन अथवा हरिण लिखना सही होता— विद्युल्लता-सी देह-यष्टि' (पृष्ठ ३६)—क्या 'लता और 'यष्टि' परस्पर विरोधी नहीं? स्वेद के ओस कन (पृष्ठ ३६)—क्या अकेले स्वेद के कन काफी न होता? फिर स्वद है ही तो 'ओस क्या? 'शयम (पृष्ठ ४०)—क्या केवल शम से काम नहीं चलता? अट्टहास भी लगाया' (पृष्ठ ४३)—क्या करने से अट्टहास न बन पडता? पुरावस्तुविदो म छुन्कारो (पृष्ठ ४४)—शायद सामान्य पुरावस्तुविद' म लगाव का काम न चल पाता। 'रेशमी दुपट्टा का तार आयूणन (पृष्ठ ४८) कितना कष्ट है 'रेशमी दुपट्टे के बादले। 'श्याम की गर्भी म किसी के वक्ष पर लगाया चन्दन का लेप सूख गया' (पृ० ४६)—क्या चन्दन का लेप धूप के साथ नाचन-नाचन बाच म हो लगा लिया था? अगर नाच के आरम्भ म लगाया था तो लेप बाद जितना भी गाढा हो उसके सूखन म

श्वास की गर्मी की आवश्यकता अथवा देर न होगी। गोपियो की अगो की रगड से कुचली पद्ममाला पर अगर 'झुड-के-झुड काले भौंरे मडरा रहे' होगे (वही) तो रास का लाभ चाहे सम्भवत हो सके, दुष्यन्त के एक भौरे के पीछे भागने की भाँति, झुड-के-झुड कृष्णो को झुड-के-झुड भौरो के पीछे भागना पडेगा। 'उन्नत प्रशस्त ललाट' (पृष्ठ ६०) नारी का सौदर्य नही पुरुप का होता है, जैसे 'सिहगति' (वही) भी। 'हाथो की नीलरक्त शिराएँ विद्युत्-प्रवाहिनी नलिकाओ की तरह उद्भासित' (वही) कष्टोपमा है। 'पुकार दिए जा रहे है' (पृष्ठ ६३) मे 'दिये' की जगह क्या कुछ और नही हो सकता था? 'अन्धगुहा मे घुसकर झाँको' (पृष्ठ ७०)—अधगुहा मे घुस जाने के वाद भी 'झाँकने' की आवश्यकता होगी? 'सस्कृतियो के अन्तरावलम्वन' (पृ० ८४), कालभैरव का कलाम नही हो सकता क्योकि 'सस्कृति' शव्द, जर्मन शव्द 'कूल्तूर' का अनुवाद, आज का लाक्षणिक शव्द है, और 'सस्कृतियो का अन्तरावलम्वन' का प्रयोग हिन्दी मे पहली वार 'प्रतीक' मे सन् '४७ मे हुआ था, गढा हुआ 'इन्टर्डिपेन्डेन्स ऑफ कल्चर्स' का अनुवाद है। पृष्ठ ८५ पर लेखक ने जो सैंधव सभ्यता की खुदाइयो मे उपलव्ध सामग्री का ज्ञान दृप्त वालाकि के मुँह मे रखा है वह काल-विरुद्ध है। 'मत्रो से दिशाएँ सुरभित हो उठी' (पृ० ८७) मे 'मत्र' सुरभि अथवा गध का स्थान ले लेते है।

'मडल मिश्र की डायरी' लेखक के प्रेरित भाव-लेखो मे अच्छा वन पडा है, यद्यपि उसकी दिशा उचित ही उसके गुरुवर की 'वाणभट्ट की आत्मकथा' द्वारा प्रदर्शित है। 'अतीत के तोरण' के निवन्धो की शैली प्रौढ नही कही जायगी, अति सामान्य और अति असामान्य के कुयोग से उनमे शैली की अनुचित सकरता आ गयी है। गद्यकाव्य लिखता-लिखता लेखक परुप उद्धरणात्मक पादटिप्पण्यात्मक हो उठता है, पाश्चात्य खोजो के अधकचरे अधपचे आँकडे भर देता है और अकारण उद्धरण निवन्ध को फूहड फुला देते है। 'दक्षिणेश्वर ने कहा' इसका ज्वलन्त उदाहरण है। नतीजा यह हुआ है कि कई वार अग्रेज़ी माध्यम से उठाए प्रतीक शव्द अजीव ध्वनि उत्पन्न करते है जैसे 'हीपोटैमस' (पृ० १४), शायद हिपोपोटैमस—दरियाई घोडे या जलहस्ती से लेखक का तात्पर्य है—'मडूसा' (वही), 'प्लूटार्च' (पृ० १७, प्लूतार्क ?), 'होल्डा' (वही), 'नूत' (वही), 'मेडोना' (पृ० १८), 'क्रेटे' (वही)। तारा अथवा राधा का व्यास को पत्र भेजना आज के सन्दर्भ मे कुछ अजव नही, पर शायद उनके सम्वोधन वाक्य और अन्तिम नामोल्लेख सभवत भिन्न होगे। 'टेराकोटा का साक्ष्य' निवध मे राधा का पत्र पटरियो पर लिखा होना वस्तुत अव चर्वितचर्वण प्रकार वन गया है, उसके द्वारा पाठक मे कुतूहल का भाव नही जगाया जा सकता। राहुलजी द्वारा उसका उपयोग अव वासा हो चुका है। साथ ही राधा ने अपने

पत्र मे जो स्तन मडल की अनुपम थिरकन (पृ० ४८) नितम्बिनी की विलम्बित गति (पृ० ५०) आदि का जिक्र किया है वह नारी की भावदृष्टि नही राधा की नही, पुरुष की है लखक की वसे ही कृष्ण के शरीर स सटी गोपियो की नीबी की गाठ का खुल जाना (पृ० ४८) भी पुरुष लेखक का ही दृष्टि विकार है। तीन घेरे एक क्षितिज नामकरण मुझे नही भाया इसम फिल्म य तीन बत्ती चार रास्ते—याद नही फिल्म के नाम मे दो बत्ता है या तीन—की ध्वनि है जिसस आज हिन्दी की अनेक कहानिया और उपन्याम भी अभिहित होन लग है। उसमे यम यमी के सम्बन्ध का जो लेखक न सामाजिक राज खोला है वह उसका इतिहास के प्रति व्यभिचार है विशेषकर चार चरण म कृष्ण और पशु प्रम मानुप द्वार म उवशी और पुरूरवा की प्रेम कथा क सम्बन्ध म दिया लेखक का 'वर्डिक्ट' सवथा अग्राह्य है। पुष्प के अभाव म और उमस कुछ उतरकर निबंध चिंतन क लेख अच्छे-खासे पठनीय हैं। अनक बार लेखक की शली ने कहानी का रूप ले लिया है जिस कला म वह निसन्देह निपुण है। निराला चेखव और हॉमिग्वे मुझे निबन्धो म विशेष अच्छे लगे। काम क सम्बन्ध म मेरा धारणाएँ लेखक से भिन्न है और पास्तरनाक-सम्बन्धी विचार तो शायद मेरे अतिरिक्त औरो का भी अग्राह्य बने, बावजूद इसके कि उसके प्रति सोवियत ने अन्याय किया है जो साहित्य की दिशा और विनियमन सवथा राजनीतिक हो जान का स्वाभाविक परिणाम है। डाक्टर जिवागो उच्चकोटि का उपन्यास है पर उसे पढकर मुझे अभितृप्ति इस कारण नही हुई कि मैंने देखा जिस राष्ट्र न मरणावस्था से उठकर इतनी शक्ति अर्जित की और निर्माण के पथ पर इतने यशस्वी डग भरे उसके संघर्षमय विजयी विकास की ओर उपन्यासकार को इतने बडे उपन्यास म सकेत तक कर देना अभीष्ट न हुआ। लेखक ने मित्रवादी आलोचको की जो निंदा की है, उचित ही है पर पुस्तक भेंट करने वालो की कृति को मिठाई मानकर उस साधुवाद करने—उसके कृतित्व का मूल्याकन करन—की बात तो लेखक के उन गुरुवर न ही तीन मास पहले इलाहाबाद क लेखक-सम्मेलन म उठायी थी जिनको लेखक न हिन्दी और अपभ्रंश दोनो म अपनी यह कृति समर्पित की है। सो मुझे डर है उसकी पहली चोट उन पर ही पडेगी। निश्चय ही 'जीवन यात्रा म थकने पर इन निबन्धो का सहारा नही लिया जा सकेगा क्योकि उनके ऊपर भयानक बुद्धिवाद शब्दमेधा का बोझ मँडरा रहा है।

१४

फिर बैतलवा डाल पर

पुस्तक का नाम जितना असामान्य है, उतना ही असामान्य उसका रचित अन्तर है। दोनो स्पृहणीय है। एक बैठक मे इसे समाप्त कर गया। जितना सस्पेट बैताल की प्राथमिक कहानियो से है उससे कम इन 'रिपोर्ताज स्केचो' मे नही है। टटकी सोधी सुगध इनसे निकलती है, कालिदास की 'मालभूमि' की नाई, सम्बन्धित गाजीपुर-वलिया की साध्य-आचलिक भूमि से उठी।

इनमे से एकाध लेख—मनबोध मास्टर की डायरी के माध्यम से—'आज' मे पढे थे, पर रत्न का सौन्दर्य तो उसकी जडी भूमि के सन्निध्य से निखरता है, इससे उन्हे औरो के साथ आज एकत्र पढकर अभितृप्त हुआ। लेख विविध हे, प्रकारान्तर से लिखे, विभिन्न सस्कारो को प्रतिविवित करते है। ग्राम जीवन का पहला प्रतिविव शिवपूजन सहाय ने अपनी 'देहाती दुनिया' मे फेका था, दूसरा रेणु ने अपने 'मैला आचल' मे, पर उनकी विद्या भिन्न थी, इनकी भिन्न है, दिशा भी भिन्न है, और भूमि प्राय क्वाँरी है, आकर्षित, अनवोई। फिर भी इन अनेकभूमिक स्केचो मे एक सूत्र भी दौडता है जो इनको पिरोकर एकत्र करता है, नथता है। वह सूत्र है, मास्टर।

परिस्थितियाँ मास्टर पर घटित होती है, मास्टर परिस्थितियो पर घटना है, पर कही भी दोनो का, प्रकृति प्रसव की तरह, परस्पर विराग नही होता। ग्राम जगत् का समूचा घिनौना, स्वस्थ-अस्वस्थ, मोह विराग सयुक्त वैविध्य मास्टर पर एकत्र चोट करता है, जिसे और घनाकर मास्टर स्वय इस जीवन के मर्म पर लौटाकर मारता है।

स्केच असामान्य चुटीले है, ग्राम जीवन के उद्घाटन मे हिन्दी-जगत् के अजाने, सादे और मर्महर, सच—नाविक के तीर। हिन्दी मे व्यग्य है, व्यग्य-निवन्ध है, पर इन व्यग्य स्केचो का व्यक्तित्व अपना है, नितात अपना। कही भी लेखक ग्राम जीवन को मानस के काल्पनिक प्रक्षेपण द्वारा नही देखता, वह उस जीवन का स्वय अग है, स्वय उसका वह स्वस्थ विप जो उसके व्रणो की

औषधि भी है। परिस्थितियों का उदघाटन सब्जेक्टिव रूप से हुआ है। किस चित्रकार ने आलेख्य लिखा —दांते कहता है— जो उसका अंग न बन सका ?" (हू एवर ड्रू ए पिक्चर हू कुड नाट बी इट ?)

व्यंग्य और हास्य की परिणति उसके प्रभाव विधान में है न फूहड़पन में न परिस्थिति की कष्टकर अनुभूति में। लेखक हमारे साथ परिस्थितियों पर हंसता है साथ ही उनका अंग बन हमारा हास्यास्पद बनने से भी नहीं डरता कारण कि वह तब स्वयं पाठक का साधर्म्यवीय भी बना रहता है। परिस्थितियाँ उसकी नहीं पर उनका उदघाटन उनपर चुटीला व्यंग्य स्वयं उनके संहार का श्रीगणेश है। लेखक समाजचेता जर्राह है।

और वह शैलीकार भी है। शैली उसकी परिमार्जित फिर भी बडी टकसाली है प्रवहमान है। ग्राम जीवन पर वह लिखता है पर वह ग्राम्य किसी प्रकार नहीं। शैली उसकी शुद्ध नागर है। इसी नागर शैली में प्रस्तुत संग्रह में उसने प्राय दो दर्जन स्केच लिखे है। इनके कवि-सम्मेलन सुर्तीकांड सभापति मास्टर और नेता, चौबेजी का चमत्कार (जिसका शीर्षक बजाय इसके मैं धरमधक्का या धरतीफार रखता) अतीव मार्मिक हैं। गांधाजी और काली माई, फिर बतल्वा डाल पर और निशानी अंगूठा जिंदावान लेखनी की शल्यक्रिया के नमूने हैं। वर्ण्य विषय को अपने निर्मम आघात से लक्ष्य बनाया गया है और उसकी प्रक्रिया शैली का विस्तार है। वर्णन शैली कहानी का रूप धारण करती है पर उसके खत्म होते ही समाज का घृष्य रूप साकार हो उठता है व्यंग्य मूर्तिमान हो उठता है। प्रगतिशील कृतित्व के इस अभिनव धनी, व्यंग्य कृती का अभिनन्दन करता हूँ।

१५

'मा निषाद....!'

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की साहित्य-परिपद् के सभापति श्री चन्द्रवली पाडे का अभिभापण मेरे सामने है। मैने इसे आद्योपान्त पढा है और फलस्वरूप मुझमे कुछ प्रतिक्रिया हुई है। पाडेजी मेरे सुहृद् है, काफी घने, और यद्यपि हम दोनो का मिलना वहुधा नही होता, एक-दूसरे के लिए हममे अपार स्नेह है। प्रस्तुत अभिभापण यदि स्वतन्त्र लेख होता तो मैं उस पर मत प्रकाश करने का आयोजन न करता, परन्तु चूंकि एक उत्तरदायित्वपूर्ण पद से यह भापण दिया गया है, मैंने उस पर लिखना अपना कर्तव्य समझा।

पाडेजी विचारते और लिखते है। जीवन उनका त्याग और तप का है। लिखने के साधन उनके पास हैं और उनसे वढकर उनके पास साहस है। वे प्राय लिखते है और यद्यपि उनके लेखो मे प्रकाशित मत से मेरा सर्वथा विरोध रहा है, मैंने उनके अध्यवसाय को सराहा है। अस्तु, यह तो हुआ व्यक्तिगत भावाकन। अव उनका अभिभापण।

अभिभापण विद्वत्तापूर्ण कहा गया है, कहा जा सकता है। लेख अथवा भापण को विद्वत्तापूर्ण वनाने के जो साधन है, उनमे से अनेक का प्रयोग उसमे हुआ है। उनमे से एक तो आकार ही है—डिमाई मे ३६ पृष्ठो का छपा हुआ अभिभापण। अवतरण-उद्धरण इस भापा के प्राण है और प्रत्येक साँस मे दिये गये है। कहने की वात इन्ही के जरिए कही गयी है। इनके जगल मे 'प्रतिज्ञा' खो गयी है, यद्यपि 'सिद्धान्त' का पथ जहाँ-तहाँ स्पष्ट हो जाता है। इतने अवतरणो से पाण्डित्य का व्यक्तीकरण तो निश्चय हो ही जाएगा, चाहे कोई यह कह ले कि इन लम्वे अवतरणो को पूरा-पूरा देने से मुद्रित भापण की काया तो पीवर हो गयी है, परन्तु उसकी प्रतिपाद्य-शक्ति और कमजोर पड गयी है। सभव है, कोई यह भी कहे कि लेखन और अभिभापण मे 'ध्वनि' या 'सजेश्चन' का भी एक राज होता है जो प्रमाणत सप्रयास वौद्धिक वितन्वन से नष्ट हो जाता है।

मो इस अभिभाषण का सर्वाधिक स्पष्ट भाग है इसमें अधिकानुचित उद्धरणों का समरस फिर मार्क्स फ्रायड के प्रति कुछ उद्गार भी स्थान हैं और अन्त में पतीसवें पृष्ठ पर हल परे में सम्मेलन के लिए कुछ सुझाव हैं जिनका गौणत्व उनके लिए स्थानाभाव और वक्ता की जल्दबाजी से सिद्ध है। —वास्तव में वक्ता भी क्या करे? साल-मात्र भर बाद जब हम मिलते है तब साहित्य चर्चा करें कुछ अपने ज्ञान का लाभ श्रोताओं को करायें या कभी न पूर्ण होने वाली लम्बी लम्बी योजनाएं रखें। इसी कारण साहित्य की मीमांसा ने इस भाषण का पुरोभाग विशिष्ट और प्राय सारा भाग स्वायत्त कर लिया है—मीमांसा यद्यपि पद्यप्राण है मीमांसाप्राण नहीं। इसी मीमांसा प्रयोग में अथवा जहाँ तहाँ स्वतन्त्र रूप से मार्क्स और फ्रायड के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी फूट पडी है। मीमांसा और इन प्रतिक्रियाओं के निगलने के बाद आखिर समय और स्थान ही कहाँ रह जाते है कि कर्णधार कुछ सुझाव रखे और नयी धाराओं की ओर रुख करने का प्रयास करे!

इस अभिभाषण की क्रमिक आलोचना करने से पूर्व सरसरी तौर से पहले हम उन दो पहलुओं पर एक नजर डाल लेना चाहेंगे जो इसके कलेवर के आलोक विन्दु हैं। उनमें से पहला तो यह है कि जीवन और लेखन में पटु और साहसी होता हुआ भी वक्ता अपने को रूढियों के जाल से पृथक न कर सका। यदि इस साहित्यिक मीमांसा में स्वयं वक्ता का स्थान खोजा जाय तो कहीं न मिलेगा। एक स्थल भी स्वयं वह इस मीमांसा में नहीं लेता, सारा विस्तार उसका Argumentum ad Hominem का है।

मेरा विश्वास है कि उन आचार्यों से कहीं अधिक ज्ञानी कहीं अधिक चिंतक मीमांसा के क्षेत्र में वह स्वयं है और अच्छा होता कि वह बजाय इन आकडों की ऊबड-खाबड पृष्ठभूमि के—जो पढते समय साँस नहीं लेने देता अपनी कुछ कहता। इस बाझिल भारती का नखशिख उसकी काया को आपादमस्तक आभरणों से ढके बिना भी सवारा जा सकता था। परन्तु यहाँ तो उसे कोई यदि सीधी बात भी कहनी है तो वह पद्य के मुह ही कहेगा, अवतरणों पर ही विराम लेगा।

अपने को प्राचीनता की मीमांसा से वह हटा नहीं सकता। वह संभवत यह भी नहीं सोचता कि उसके अवतरित आचार्य अपने समय के अर्वाचीन है। आज की मीमांसा में नये मान नयी परिस्थितियाँ प्रस्तुत हो गयी हैं। उनका उपयोग न करना अथवा उनसे उदासीन हो जाना बडी साहित्यिक न्यूनता होगी।

मानदण्ड बराबर नये नये बनते गये हैं। कालिदास ने स्वयं अपने काल में 'पुराणमित्येव न साधु सर्व' का नया मानदण्ड रखा था। उसी मानदण्ड का

अभाव जब कुछ सदियो बाद भवभूति को खला तो उसने 'उत्पत्स्यते ममतु कोऽपि समानधर्मा' की कामना की। किन्तु राजमार्ग पर चलने की इच्छा से खडे हुए वक्ता ने जब पीछे की ओर अपना रुख कर लिया तब आगे की ओर उसकी प्रगति क्योकर हो ?

वक्ता की प्रतिक्रिया और आक्रोश के कारण है मार्क्स और फ्रायड। उसकी धारणा है कि पाश्चात्य-प्रभावित आलोचना मार्क्स और फ्रायड के विचारो से अनुप्राणित है और इस आलोचना का उपयोग हिन्दी प्रगतिवादी करता है। इसमे सन्देह नहीं कि आधुनिक साहित्यिक मीमासा मे, साधारणतया और मोटे रूप से, दो ही आलोचनात्मक दृष्टिकोण हो सकते है—एक पाश्चात्य, दूसरा पौर्वात्य। पाश्चात्य दृष्टिकोणो मे निस्सन्देह एक मार्क्सवादी भी है। पौर्वात्य मे प्राचीन आचार्य—दण्डी, भामह, वामन, मम्मट, कैयट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, धनञ्जय, राजशेखर, विश्वनाथ, पण्डितराज, आदि।

पाश्चात्य समालोचना के सिद्धान्त अपेक्षाकृत आधुनिक है, आधुनिक साहित्यिक प्रयासो की मीमासा करते है, आधुनिक साहित्यिक प्रयासो के अनुकूल ही वे निर्मित भी है। प्रगतिशील साहित्य-धारा के अनुकूल स्वय उनमे परिवर्तन होते रहते है। नित्य उनके मानदण्ड परिस्थितियो का अनुसरण करते रहते है। साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य से है, मनुष्य जीवित प्राणी है, और उसके नित्य के जीवन से, अध्यवसाय-प्रयास से, प्रेम-घृणा से, राग-विराग से साहित्य की काया निर्मित होती है। आज का जीवन जितना सार्वजनिक है उतना वह कभी न था। पाश्चात्य समालोचक का दृष्टिकोण इन नवीन परिस्थितियो को अपने आलोक-मार्ग मे रखता है।

पौर्वात्य प्रणाली कभी समीचीन होने पर भी आज अधिकाश मे निरर्थक हो जाती है। किन अशो मे आज का हिन्दी काव्य-साहित्य समीक्षा मे पाश्चात्य मानदण्ड की अपेक्षा करता है, यह विस्तृत रूप से विद्वान् वक्ता को बताने की आवश्यकता नही, यह वह स्वय जानता है। बस इतना लिख देना पर्याप्त होगा कि छन्द, भाव, उद्देश्य, दृष्टिकोण, शैली, सब कुछ मे भारतीय और हिन्दी गद्य-पद्य-साहित्य आज पश्चिम से अनुप्राणित है—अनेकार्थ मे पूर्व से अपेक्षाकृत अधिक।

प्राचीनकाल मे भारत मे साहित्य का निर्माण वर्गविशेष के प्राधान्य मे वर्ग-विशेष के मनोरजनार्थ हुआ, इसी से लिखा भी वह उस भाषा मे गया जो जनसाधारण की भाषा न थी। इस बात को न भूलना चाहिए कि सस्कृत नाटको मे भृत्य, नारी, आदि प्राकृत मे और राजा, ब्राह्मण, पुरोधादि (विशिष्ट वर्गवाले) सस्कृत मे बोलते है। नारी का स्थान इस अर्थ मे अपने पति के पास नही, उस भृत्य के पास है जिसकी भाषा वह बोलती है—चाहे वह सीता

हो चाहे शकुन्तला। चूँकि प्राचीन साहित्य सार्वजनिक न था, इसलिए तात्कालिक असार्वजनिक समीक्षा सिद्धान्त ही उसकी व्याख्या कर सकते थे और आज जब भारतीय साहित्य ने सार्वजनिक बाना पहन लिया है—पश्चिम के लिये प्रजातान्त्रिक शासन की डोर तक सम्हालने लगा है—प्राचीन अपूर्ण आलोचना सिद्धान्त उसमें लागू न होंगे। और फिर भी किसी ने वक्ता की भाँति चिल्लाकर कहा—आइ शल ड्रा द डेड अप फ्राम देयर ग्रेव! तो इसका एक ही उत्तर हो सकता है—यस, बट विल दे कम?—नहीं लौटेंगे अब वे प्राचीन समाधिस्थ सिद्धान्त!

भारतीय समीक्षक यदि अपने बढ़ते हुए साहित्य को नापना चाहेगा, उसकी नयी अँगड़ाइयों, नयी करवटों, नये पहलुओं को समझना चाहेगा तो उसे पाश्चात्य मानदण्ड को अपनाना पड़ेगा। और इस पाश्चात्य माप में मार्क्सवादी मानदण्ड ने अपना स्थान बना लिया है। नये राजनीतिक विकास के साथ-साथ वह बनता ही जायगा, यह सम्भवतः श्रीपाद भी मानेंगे।

भारतीय समीक्षा-क्षेत्र से मार्क्सवादी दृष्टिकोण बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। इससे भी अधिक यह कि उसकी उत्तरोत्तर आवश्यकता पड़ेगी—उसी परिमाण में जिसमें साहित्य सार्वजनिक होता जायगा, उसका जीवन से अधिकाधिक सम्पर्क होता जायगा—वस्तुतः उसी औसत में जिसमें जीवन का संघर्ष सघन होता जायगा, संघर्ष के घृणा-आक्रोश बढ़ते जायेंगे, उसमें भाग लेने वाले समानधर्मियों के पारस्परिक प्रेम की नयी नयी कोंपलें फूटती जायेंगी। मार्क्सवादी दृष्टिकोण सर्वथा जनकल्याण की भावना से आलोकित है, पहली बार वास्तविक बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय—परिणामतः सर्वजनहिताय, *सर्वजनसुखाय—के सिद्धान्त को मानव प्रयास ने हृदयंगम किया है, प्रश्रय* दिया है।

विद्वान वक्ता ने स्थान-स्थान पर अपने अभिभाषण में मार्क्स को रोटी का आचार्य कहा है। मार्क्स के सिद्धान्तों को छोड़ केवल उसके जीवन का ही यदि वक्ता ने अध्ययन किया होता तो कम-से-कम वह इस अनुत्तरदायित्व के साथ उसका उल्लेख न करता जैसा कि उसने किया है। उनकी लेखनी से उस तपस्वी के प्रति साधुवाद नहीं, व्यंग्य नहीं, आँसू निकलते।

मार्क्स अपनी मेधा से किसी दिन जर्मनी का मिनिस्टर हो सकता था। उसके अपने निकट सम्बन्धी—श्वसुर और साले—वेस्टफालेन सीनियर और जूनियर राज्य के मन्त्री थे। स्वयं उसकी सर्वतोमुखी प्रतिभा यदि चाहती अनेक विस्तारों का सृजन कर सकती या अनेक [illegible] की [illegible]—[illegible]—[illegible] में परिवर्तित कर सकती थी।

[illegible] का यह [illegible] था [illegible] उसकी जबान पर

थे, पोलिटिकल-इकानामी के अपने ज्ञान से वह ऐडम स्मिथ की लीपापोती पर स्याही लगा चुका था, 'वेल्थ-आफ-नेशन्स' उसके 'कैपिटल' मे विध्वस्त पडा था, गणित मे वह बेजोड था, फिजिक्स-बयालोजी मे उसने समकालीन विशेषज्ञो को हैरत मे डाल दिया था। पहली बार उसके वैज्ञानिक सिद्धान्तो ने खरे विज्ञान का स्थान ग्रहण किया, पहली बार दर्शन, साइन्स की शृखला मे, एक कडी समझा गया। जेम्स जीन्स के मुकाबले के विज्ञानवेत्ता जे० बी० एच० हाल्डेन ने इस बात को स्वीकार करते हुए कहा है कि विज्ञान उसका ऋणी है।

उसने तप का जीवन क्यो अपनाया? क्यो उसने अपनी पत्नी जेनी को श्रमिक का कठोर जीवन अपनाने के लिए विवश किया, उस जेनी को जो मिनिस्टर पिता की कन्या थी, मिनिस्टर भ्राता की भगिनी थी? क्यो उसने उसे विवसित होने दिया, क्यो अकाल कवलित हो जाने दिया—उस जेनी को जो अकेली थी, जो उन रथ भर-भरकर दान मे मिलने वाली अनेक नारियो मे से सर्वथा न थी जिनको 'कर्मकाण्ड के आचार्य' नारी और शूद्र के (अनजाने सुने मन्त्रो के कारण) कान मे पिघला रागा डालने वाले, निर्लिप्त अरण्यवासी आचार्य, घर मे डाल कक्षीवान्, कवष, वत्स और औशिज उत्पन्न करते थे? क्यो उस व्रती ने अपने एकपत्नी-जीवन को विरस किया? क्यो उसने 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' का आदर्श आचरण करते हुए भी—जो अग्निवर्णो के पूर्वजो के सम्बन्ध का वक्तव्य होकर भी उनके पक्ष मे सर्वथा व्यग्य प्रमाणित हुआ—अपने प्यारे बच्चो को उसी रोटी के अभाव मे, जिसका वह आचार्य कहा गया है, मृत्यु के झोले मे एक के बाद एक टपक जाते देखा? क्यो चिकित्सा के अभाव मे, वस्त्रो के अभाव मे, उसके बच्चे न्युमोनिया के शिकार हुए? क्यो उसकी नित्य की आवश्यकता की वस्तुएँ, उसके वस्त्र-परिधान, उसका एकमात्र अवलम्ब—पुस्तके—घर से बाहर निकाल नीलाम कर दी गयी? कौन इसका उत्तर देगा—हाईगेट सिमेटरी का वह समाधिस्थ तपस्वी या सम्मेलन के साहित्य परिषद् का यह सुवक्ता?

फ्रायट पर भी पाडेजी ने 'कृपा' की है। फ्रायड मनोविज्ञान का पण्डित ही नही, जनक है। पहले-पहल उसने ही पूर्ण मुखरित-अर्धचेतन चेष्टाओ, स्वप्नो आदि के अध्ययन को विज्ञान का स्टेटस दिया। यदि 'गोयूथिकम्' की व्याख्या करनेवाले यौन-आचार्य वात्स्यायन को काम-विज्ञान का प्रथम वैज्ञानिक माना जा सकता है—और मैं उसे ऐसा मानता हूँ—तो इस विज्ञान-युग का विचक्षण और सयत फ्रायड निश्चय ही मनोविज्ञान का कुशल पण्डित है।

आज 'साइकालोजी' को वैज्ञानिक आन्दोलनो और अधिवेशनो मे जो स्थान मिलने लगा है, यह एकमात्र फ्रायड की खोजो का ही परिणाम है। काश

पण्डितजी उस सनक मधावी फ्रायट की खोजा का अध्ययन कर सकत !

नि सन्देह भारतीयवादी को सभी वैज्ञानिक आविष्कार अभारतीय अयच पार्थिव भौतिक और अग्राह्य लगते हैं। अधकार अज्ञान अविज्ञान की जय ही उसके लिए भारतीयता है। फ्रायड भला कम रच और सम्हार म आय ?

फिर यदि भारतीयवादी को वात्स्यायन और च्यवन स्वीकार हैं तो वैज्ञानिक फ्रायड तो अनेक बार स्वीकार होना चाहिए। फ्रायड न क्या किया है ? कुछ अधचर्चित चेष्टाओ अनाचरित जुगुप्साओ की व्याख्या। इस वैज्ञानिक व्याख्या का स्वीकार करन के लिए डाला बारजक लाम-ज्वायस की पृष्ठभूमि स यहा अधिक दण्डी की पृष्ठभमि आवश्यक होगी जिसके 'दशकुमारचरित की गणना काव्या म की गयी है और जिस चरित के विश्लषण के लिए किसी महत्तर फ्रायड का आवश्यकता होगी भारतीयता के उस नग्न यौनाचरण के लिए अश्विनीकुमारा को भी नयी लाक्षणिक व्यजना सोचनी पडती वात्स्यायन भी जिस देख घृणा स मुह फेर लते।

विद्वान वक्ता के सुझावा के सम्ब ध म तो कुछ कहना ही व्यथ है जितना ही कम कहा जाय उतना ही अच्छा। सुझावा की आवश्यक उसन शायद स्वय ही नहा माना इसी कारण उनका प्रकाशन अत्य त दुबल अत्य त अरुचिकर ढग से हुआ है। जितनी वाक्पटुता उसन अपनी प्रतिक्रियाया के उदगार म दिखायी है यदि उतनी वह इन सुझावा के सम्बन्ध म खच करता तो उसका वह स्कन्ध इस प्रकार उपेक्षित न रह जाता। खर इसस हमारा कोई सम्बन्ध नही। हम अब उसके प्रतिपादित विषय पर विचार करग।

आरम्भ म ही विद्वान सभापति ने मा निषाद आदि का उदाहरण देकर कहा है कि आदि वाणी के विश्लेषण के बिना काव्य का यथाथ खुल नही सकता और साहित्य का मम हमारी आखा से ओझल ही रह सकता है। आप यह भी कहत हैं कि हमारे काव्य का उदय हुआ है इस पून वाणी म

मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वती समा ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम ।।

मैं शायद इस प्रसग को अन्यावस्था म साधारण भारतीयता की बात कहकर छोड जाता क्योकि इस श्लोक का अवतरण दे दे क्रौञ्चवध स करुण-काव्य का आरम्भ कहन मानने की भारतीयो म एक स्वाभाविक पद्धति-सी हा चली है। परन्तु चूकि साहित्य की अगली मीमासा का यह विषय प्रवेश प्रतिज्ञा-सा हो गया है, मुझे उसपर विचार करना पड रहा है।

क्या सचमुच इस आदि कवि की आदि वाणी के विश्लेषण के बिना काव्य का यथाथ खुल नहा सकता ? क्या देश विदेश के साहित्य ममज्ञ न बगर संस्कृत आदि काव्य' पढे बगर वाल्मीकि को जान काव्य और साहित्य पर

विशद और उचित विचार नही किये है ? क्या उनके प्रति अज्ञान ने किसी प्रकार इन आचार्यो की पहुँची हुई ऊँचाइयो को अप्रतिष्ठा दी है ? विदेशियो को जाने दीजिए, क्या हमारे गत महान् माहित्य-मर्मज्ञ आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल की सस्कृत की अपेक्षाकृत अनभिज्ञता से उनका स्थान समीक्षा के क्षेत्र मे किमी प्रकार नीचे उतर पडा है ?

और हमारे काव्य का उदय क्या सचमुच 'मा निपाद' की पूत अथवा अपूत वाणी से ही हुआ है ?—मैं, इस पर प्राय वही बात कहता जिसका विज्ञ वक्ता ने अपने अभिभाषण के अन्तिम भाग मे विरोध किया है। क्या सचमुच काव्य का आरम्भ वाल्मीकि और उनके रामायण से ही हुआ है ? और क्या सचमुच इस रामायण की धारा भी क्रौञ्च के वध से ही फूट पडी है ? क्या यह श्लोक केवल 'कविता' के स्वभाव की ओर सकेत नही करता ? यथार्थत क्या यह माना जा सकता है कि रामायण के पहले कविता या काव्य न थे ? उस अर्थ मे भी जिसमे श्री पाडेजी 'काव्य' को समझते है—प्रवन्ध-काव्य के अर्थ मे ?

जहाँ तक यह श्लोक एक भावमय लोक का सृजन करता है, वह ग्राह्य है, परन्तु ऐतिहासिक काव्य के आदि मत्र के रूप मे सर्वथा नही। कविता का आर्द्र प्रस्फुटन प्राय उतना ही प्राचीन है जितना मानवता का रुदन-हास्य। हाँ, सस्कृति के उदय और प्रसार के साथ कविता मे रूप और व्यवस्था की जो एक परम्परा कायम होती है, वह अवश्य ऐतिहासिक उपलब्धि है, परन्तु उसका आरम्भ भी वाल्मीकि से हुआ, यह सर्वथा अग्राह्य है।

क्या रामायण के उपरले काल-छोर ५०० ई० पू० के पहले काव्योदय नही हुआ था ? क्या 'श्लोक' की परिपाटी और प्राचीन नही है ? क्या शोधक विद्वानो ने नही कहा है कि छन्द की यह व्यवस्था ऋग्वैदिक काल से ही चल पडी थी—अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ ऋग्वेद मे ये छन्दगत अथवा व्याकरण-परक दोष अधिक है, रामायणादि मे अपेक्षाकृत कम, वह भी माधारणतया इस कारण कि पाँचवी ई० पू० तक 'अष्टाध्यायी' का प्रणयन हो चुका था ?

क्या इस काव्य-काल के प्राय बीस शताब्दियो पूर्व ही ऋग्वेद के अजस्र काव्यस्रोत का उद्रेक नही हो चुका था ? क्या उषा के प्रति गाये, वरुण की अर्चना मे ध्वनित और वागम्भृणी द्वारा रचे काव्यो से अधिक सम्मोहक, अधिक करुण, अधिक शालीन और अधिक ओजस्वी कृतियाँ ससार के माहित्य मे सुरक्षित है ? इनका काल-स्तर क्या रामायण से शताब्दियो पूर्व नही है ? (मैं रामायण का नाम लेता हूँ, वाल्मीकि का नही, जिसका तात्पर्य श्री पाडेजी, मेरा विश्वास है, समझेंगे।) और ठीक प्रबन्ध-काव्य के रूप मे क्या हमारे पास इस रामायण से पूर्व कुछ भी न था ? (हमारे इन प्रश्न से यह हरगिज न

समझा जाय कि रामायण के प्रति हमारी किसी प्रकार की अश्रद्धा है अथवा हम उसे अत्यंत उच्चकोटि का साहित्य नहीं मानते।) क्या दशरथ जातक से हा, जो छठी सदी ई० पू० से सदियों पूर्व प्रस्तुत हो चुका था किसी ऐसे ग्रंथ का संकेत नहीं मिलता ? क्या वाल्मीकि रामायण के रचना-काल के समीपवर्ती महर्षि पतञ्जलि ने स्वयं किसी पूर्ववर्ती रामायण से काव्य का निर्देश नहीं किया है ?

पतञ्जलि ने दो ऐसे श्लोकों का उद्धरण अपने महाभाष्य में पाणिनि के सूत्र उपामन्त्रकरणे (अष्टाध्यायी १।३।२८) की व्याख्या में दिया है जो वाल्मीकि रामायण की किसी मुद्रित अथवा अमुद्रित प्रति में नहीं मिलते। ये श्लोक नीचे दिये जाते है

बहूनामप्यवित्तानामेको भवति चित्तवान ।
पश्य वानरसैन्येस्मिन्यदकमुपतिष्ठते ॥
मैव मस्था सचित्तोयमेषोऽपि हि यथा वयम ।
एतदप्यस्य कापेय यदकमुपतिष्ठति ॥

प्रमाणतः ये श्लोक श्लोक परम्परा के है और है किसी राम काव्य या रामायण के जो वाल्मीकि रामायण का पूर्ववर्ती था। हम यह न भूलना चाहिए कि महर्षि पतञ्जलि का समय ई० पू० द्वितीय शती है। इसके अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण से पूर्व किसी प्रबंध का साहित्य मे निर्देश न हुआ हो यह बात भी नहीं है। महर्षि च्यवन का रामायण तो कवियों की प्राचीन परम्परा में विख्यात है यद्यपि उसका पुनरुद्धार अभी तक न हो सका। मुझे आश्चर्य न होगा यदि ऊपर के दोनों श्लोक उसी रामायण के प्रमाणित हो जाय। च्यवन वाल्मीकि के कुल के ही और उनके पूर्ववर्ती थे। उसके राम काव्य के प्रति संकेत प्रथम शती ईस्वी में होने वाले अश्वघोष ने भी अपने 'बुद्धचरित' में किया है—

वाल्मीकिनादश्च ससर्ज पद्य जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षि ।

विद्वान् वक्ता इसके बाद कहता है कि काव्य का सच्चा आनन्द सामाजिक को ही मिलता है ? तो फिर काव्य के इस प्रकरण पर पूरा ध्यान क्यों नहीं दिया जाता और क्यों नहीं इसी की व्याख्या को साहित्य शास्त्र का सर्वस्व समझा जाता ?

इस पाश्चिक अहमन्यता से तो सचमुच साहित्य की समाप्ति हो चुकी।— न भूतो न भविष्यति के से असमर्यादिक उल्लास को व्यक्त करने की परम्परा तो भारतीय ही है न ? भले ही आप ईसा की भांति विगत वर्तमान और भविष्य के सारे पाप अपने मस्तक पर उठा लें अथवा शुतुर्मुर्ग की भाँति गर्दन रेत में गाड़ चिल्लाते रहें कि वाल्मीकि रामायण के बराबर कुछ नहीं था कुछ नहीं

है, कुछ नही होगा, परन्तु इससे न तो आगे होने वाले पापो पर कोई व्यतिक्रम होगा, न ही काव्यो के सकलन-मर्जन पर। जो पूर्व था वही साधु है, उसी मे सब कुछ समाप्त है, इस परिपाटी को छोडिये, तभी कह सकेंगे कि 'काव्य का सच्चा आनन्द सामाजिक को ही मिलता है न ?' जो आपने कहा है। और यह भी कि 'सच्चे साहित्य का निर्माण भी सामाजिक ही कर सकता है, विरक्त ऋषि नही'—जो आपने नही कहा है और जिसे आज का प्रगतिशील साहित्यिक—जिसका आप विरोध करते है—कहता और मानता है। फिर आपको यह कहने की भी आवश्यकता न रह जायगी कि आज साहित्य प्रपच मे पडकर वादो का पचडा गा रहा और प्रवचना का पुरोहित बन रहा है, क्योकि तब आप समझेंगे कि 'वादो का पचडा' समीक्षक का वर्गीकरण है, स्वय वादो द्वारा प्रस्तुत पचडा नही, और यह कि वाद पचडे नही सामाजिक प्रगति, जीवन-प्रवाह और जीवन तथा साहित्य के अटूट स्वाभाविक सम्बन्ध की अनुक्रमणी है।

'मिथुन और काम की आज बड़ी चर्चा है। फ्रायड और मार्क्स की कृपा से इनको स्थान भी अच्छा मिल गया है ···।' मार्क्स, जहाँ तक मेरा ज्ञान है, पहला व्यक्ति था जिसने साहित्य मे अश्लीलता और यौनोपासना के विरुद्ध आवाज उठायी और सामान्तवादी प्रमाद, विलास की दासता से सर्जक साहित्यक को मुक्त होने के लिए उत्साहित किया। काश पडितजी ने जर्मन प्रगतिशील कवि हाइने की कविता पढी होती और जाना होता मार्क्स का उसके प्रति रुख़ !

अब आप सुनिए कि फ्रायड और मार्क्स की कृपा से मिथुन और काम को 'अच्छा स्थान' नही मिल गया है, वरन् उसका कारण औरो की कृपा है—वात्स्यायन की कृपा, जिससे कालिदास के कुमारसम्भव के आठवे और रघुवश के उन्नीसवे सर्ग की अभिसृष्टि हुई, जिससे प्रभावित कवि पूछ उठा—ज्ञाता-स्वादो विवृतजघना को विहातु समर्थ ? उस दुष्यन्त की कृपा से जो ऋषि की अनुपस्थिति मे उसकी कन्या को पेड के पीछे से छिपकर निहार सकता है, तपोवन की छाया मे 'वर्णाश्रमाणा रक्षिता' होकर भी उसे कामदूषित कर सकता है,—उस रावण की कृपा से जो पिता के घर जाती हुई ऋषि-कन्या को बलपूर्वक भोग 'मथित नलिनी' की भाँति कँपा देता है, सीता को ले भागता है, उस इन्द्र और चन्द्रमा की कृपा मे जो गुरु-पत्नियो तक मे पराङ्मुख नही होते,—उदयन और कुमारगुप्त की कृपा से जिनके कामस्खलन से भारतीय साहित्य अनुप्राणित है;—उन पृथ्वीराजो के उन्माद से जिसने आपके हिन्दुत्व की नाक काट दी, मन्त्रयान, वज्रयान, शाक्त कुमारी-पूजा की कृपा से जो उड़ीसा से कामरूप, और कामरूप से विन्ध्याचल तक नगी नाचती रही और

जिनके सहस्रों यौन प्रदर्शन एलोरा के कैलाश, उड़ीसा के कोणार्क, पुरी और भुवनेश्वर, बुन्देलखण्ड के खजुराहो आदि के मन्दिरों पर स्पष्ट उत्कीर्ण हुए —शाक्तों की उस आदि परम्परा की कृपा से जो मोहन जोदड़ो से आज तक उपस्थ और योनि को देवता मानती आयी है —उस [illegible] की परम्परा से जिसकी ऊँचाइयों का अनुसंधान ही पुराणों में ब्रह्मा और विष्णु की महिमा का प्रमाण हुआ —उस गोप्य साधक-साहित्य की कृपा से जिसकी परम्परा गायकवाड़ का प्रकाशन विभाग अभी कायम किये हुए है —श्री हरि-कृष्ण की कृपा से जिनके चरित शतकों—भागवतों—गीतगोविन्दों ने गाये हैं,—अनेक सखी समाजों की कृपा से जिनमें पुरुष नर होकर भी गोपी भोगी कृष्ण के साथ नारी के रोल में समागम करता है और रति में धीरे धीरे हो कर्ताई की कष्ट चेतना करता है —फिर उस समाज की कृपा से जिसका चित्र दण्डी ने अपने दशकुमारचरित में खींचा है और जिसकी पराकाष्ठा रीतिकाल के कवियों ने की है—साधुवादिनी मीरा तक ने—

लोकलाज कुल की मर्यादा याम एक न राखूँगी,
पिया के पलंग पर जाय पड़ूँगी मीरा हरिसंग नाचूँगी।
नाच-नाच पियारसिक रिझाऊँ प्रेमीजन को जाँचूँगी
प्रेम प्रीति के बाँध घूँघरू सुरत की कछनी काछूँगी।

सामाजिक मगर पूछेगा—क्या ये सब उदयपुर के मन्दिरों में ही सम्भव न थे पर हाँ जहाँ लोकलाज डुबा देने की प्रतिज्ञा है वहाँ सचमुच यह कम सम्भव हो सकते थे?—विशेषकर उस स्थिति में जब कि प्रेमी जनों को जाँचना था —जिन बूड़े उनकी क्या दशा हुई होगी?

अब रखिए जरा जगदम्बा सीता को इनकी बगल में —है हिम्मत? मैं उस शृंखला में प्रव्रजित सूर बेनीमाधवों की गणना नहीं करता जिन्होंने विपरीत की एक अटूट परम्परा बाँधकर अपनी प्रव्रज्या को पावन किया है। सारी भारतीय काव्यपरम्परा कुछ अपवादों को छोड़ इस मिथुन और काम से अभिभूत है जो फ्रायड और मार्क्स की कृपा का फल नहीं हो सकता। और यदि मैं ऐतरेय ब्राह्मण की अश्वमेध परम्परा से उसका आरम्भ करूँ और उससे भी पूर्व के ऋग्वैदिक इन्द्राणी सम्भाषण से तो बेनीमाधव तक पहुँचते इस सम्बन्ध का एक बिब्लिओथेका इण्डिका प्रस्तुत हो जायगी।

विद्वान वक्ता ने अपने अभिभाषण में शृंगारतिलक की परम्परा को अनेक बार उद्धृत किया है। अपने नीति मत से यह परम्परा न केवल काम रूपी अपस्मार की भयंकरता प्रदर्शित करती है वरन विकराल सामाजिक उस वस्तुस्थिति का भी उद्घाटन करती है, जिसमें यह संक्रामक हो चुका था। सही 'शृंगारतिलक' का रचना काल दशकुमारचरित में उद्घाटित समाजाचरण का

पराकाष्ठा-काल था। यही फ्रायड का निगमन भी है—विधि-निषेध जीवित सामाजिक पृष्ठभूमि की ओर सकेत करते हैं।

"हरि की चिन्ता न 'फ्रायड' को हुई और न 'मार्क्स' को। फ्रायड ने 'मैथुन' को अपना विषय बनाया और मार्क्स ने 'आहार' को। फिर यहाँ की गतिविधि या सस्कृति से उनका मेल कैसे हो?"—यह कहकर वक्ता महोदय मनुस्मृति का एक श्लोक जड देते है।

यदि वक्ता के इन अवतरणो के औचित्य पर विचार किया जाय—इतना समय और स्थान हो—तो अनेकाश मे यह स्पष्ट हो जायेगा कि इनकी सार्थकता वस्तुत पाण्डित्य-प्रदर्शन तक ही सीमित है, सिद्धान्त के आलोचन से विशेष नही। फिर हरि की चिन्ता फ्रायड और मार्क्स को क्यो हो? उसकी चिन्ता तो मनु को थी जिसने ब्राह्मण को भूसुर बनाया, शूद्र और नारी का वेदाध्ययन वर्जित किया, बारहवे अध्याय मे जातियो के विधान बाँधे, अछूतो (हरिजनो) की अनन्त परम्परा प्रस्तुत की, नारी को 'मुद्‌गुप्कुल' से भी प्राप्त करने की व्यवस्था की, उसके अधिकार छीन बहु-विवाह की प्रथा शास्त्रसम्मत की।

मार्क्स के आहारवाद की बात पर कुछ पीछे भी लिख आया हूँ। यहाँ इतना कह देना काफी होगा कि जिस 'आहार' के लिए ऋग्वेद का ऋषिमण्डल हरि के गो-कृपिफल आदि की दैन्य भिक्षा करता है और जिसके 'कूट' को पुरोहित-राजा मिलकर 'विश' (साधारण जनता—क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) से दबाकर हडप लेते है, उस अर्थ मायासिद्ध हरि के प्रवचक कोट को तोड मार्क्स जनता को ललकारता है कि रोटी तुम्हारे पसीने की कमाई है, तुम्हे जो वचित करे, वह चोर है, उससे तुम अपनी दाय—'य य पश्यसि तस्य तस्य पुरत' —दीन वचन बोलकर मत माँगो, अधिकार से छीन लो।

महाभारत के शान्तिपर्व और अर्थशास्त्र की पक्षपूर्ण प्रवचना की कहानी इससे कही दारुण है, पाडेजी! मार्क्स ने उदात्त स्वस्थ अधिकारो पर अपने सिद्धान्तो के पाये रखे है।

'यहाँ की···सस्कृति से उनका मेल कैसे हो?'—पाडेजी समझते हैं कि यहाँ की सस्कृति पृथक् और विशिष्ट है। वास्तव मे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का नित्य पाठ करने वाले भारतीयो ने यदि सस्कृति की सकरता समझी होती और उसकी अनिवार्य समष्टि पर ध्यान दिया होता तो 'अय निज. परो वेति' के जाप करके भी वे अपने-पराये का इतना अन्तर न करते। नित्यकथित इस भारतीय सस्कृति मे कितना भारतीय है, इस पर यदि विचार किया जाय तो भारतीय-वादियो के सामने आसमान घूम जाय।

'मिथुनभाव' के सम्बन्ध मे लिखते हुए आप कहते हैं कि "फ्रायड को इन

प्रत्यया का (भारतीय काम-परम्परा का जिसका विवेचन किया गया है) पता होता तो क्या करता यह हम नहीं जानते पर इतना अवश्य कह सकते हैं कि इसमें उनकी धारणा में कुछ विशदता अवश्य आती और उनके साहित्य में कुछ अधिक होता।

पाडेजी न जानने हों सम्भव है पर हम निश्चित रूप से जानते हैं कि यदि उन्हें प्रत्यया का फ्रायड को पता होता तो वह क्या करता। तब उसे निगमन और व्याप्ति के अर्थ समाज की सामाजिक चेतना के आदर्श के लिए इतना भटकना न पडता तब उसे एक ही स्थान पर उसके सारे 'साम्य' (आँकडे) मिल जाते और वह भी शायद उस भारतीय साहित्य-समीक्षक पंडा की भाँति महाकाव्य प्रणयन अपने भतीजे से करता—यदि पूर्व यश यह दापाकर पहले प्रस्तुत कर लिया होता तो मुझे साहित्य-सागर में काव्य-भाषा के लिए डुबने उतराने की आवश्यकता न पडती।

और यह लोकहित भी कुछ अधिक ही होता क्या?—फ्रायड क्या नितान्त पाप नहीं है? क्या उसके सिद्धान्तों ने कुछ (अधिक के विरोध में) लाभ संसार को कराया है?—साधुवाद! परन्तु प्रतिभा और वक्तव्य की स्पिरिट तो बराबर इसके विपरीत रहा है।

पाडेजी कहते हैं कि रति की व्याप्ति बहुत है। देवरति भक्ति का रूप धारण करती है तो वत्स रति वात्सल्य का।

हाँ इसकी व्याप्ति बडी है क्योंकि जो मेधा इस सत्य का दर्शन करती है वह सवत्र है न?—रमणी के साथ भी वत्स के साथ भी। चाहे उपनिषदों को अध्यात्म और दर्शन का जितना भी रूप दिया जाय परन्तु वत्स के साथ भी उसके वर्णनों में जहाँ जहाँ रति के सम्बन्ध में उपस्थ का उल्लेख होगा वहाँ वहाँ देशी या विदेशी फ्रायड जरूर सतर्क हो जायगा और औपनिषदिक उपस्थ के आनन्द की एकायनता —केनानन्द रति विजानाति? उपस्थेनेति— को निश्चय वह उसके मूलाधार ऋग्वेदिक इन्द्र इन्द्राणी के सम्भाषण तक पहुचायेगा।

पाडेजी के कथनानुसार यदि आलम्बनों के पुण्य चरित्र की प्रतिष्ठा काव्य में सदा से चली आयी है तो इसलिए नहीं कि प्रतिपाद्य की सर्वांगीण समीक्षा कर पुण्य चरित्र की स्थापना की जाती थी वरन इसलिए कि सारे साहित्य और तत्सम्बन्धी विचार एक वर्गीय—अभिजात वर्गीय—थे और साहित्यकार अधिकतर सामन्तवादी संरक्षणता में लिखता था उसके लिए उसका संरक्षक सामन्त ही पुण्य चरितवान था। उस आलम्बन के मूल में साहित्य की असार्वजनिकता थी। साहित्य केवल ब्राह्मण क्षत्रियों के लिए था वैश्यों

शूद्रो, अन्त्यजो, नारियो के लिए नही। इनमे से कोई नायक नही हो सकता था।

साहित्य सब काल मे राजनीति का दर्पण रहा है, यह बडी आसानी से दिखाया जा सकता है। राजनीति के असार्वजनिक होने से जीवन के क्षेत्र मे जो उपेक्षित थे, साहित्य मे भी वे उपेक्षित हो गये। 'द्विजेतर-तपस्वी' के लिए राम की तलवार प्रस्तुत रहती थी, साहित्य का रगमच नही।

राजनीतिक सार्वजनिकता के साथ-साथ जो साहित्यिक सार्वजनिकता अब आयी है, उससे स्पष्ट हो गया कि समाज का कितना बडा अग उपेक्षित रहा है और जिस प्रकार राजनीति मे उस उपेक्षित अग के साथ न्याय करने का प्रयत्न किया जा रहा है, साहित्य पर उसका सापेक्ष्य प्रभाव पडेगा और जो चिर उपेक्षित रहे है, उनके सम्बन्ध के साहित्य की अब आँधी आयगी ही।

'घसियारिन चाहे पत्थरतोडिन'—जो आज के साहित्य के अवलबन है—उनका चरित्र महान् समझकर (जैसा कि पाडेजी ने दिखाने, सिद्ध करने का प्रयत्न किया है) नही लिया जाता—इसलिए नही कि वह अपने वर्ग मे विशिष्ट है वरन् इसलिए कि वह प्रवाहित जलराशि की एक बूँद है। बूँद लेने मे विशिष्ट बूँद की आराधना का तात्पर्य नही, किसी भी 'घसियारिन' और किसी भी 'पत्थरतोडिन' से काम चल जायेगा, क्योकि जनतन्त्रीय दृष्टिकोण से साहित्यिक को व्यक्ति से अधिक समाज की अविकृत अवैयक्तिक सामूहिक और समान अनुभूति का निदर्शन करना है।

अपने पक्ष के समर्थन मे पाडेजी ने बिहारीलाल के कुछ ऐसे दोहो के उदाहरण दिए है जिनमे 'पत्थरतोडिन' और 'घसियारिन' पर कवि ने कृपा की है। ये उदाहरण पाडेजी के दृष्टिकोण के अनुकूल ही है। दरबारी वारागनाओ और 'नागरियो' से ऊबकर यदि कवि बिहारी और उनके समर्थक खेत रखाने वाली 'गँवारियो' पर स्वाद परिवर्तन के लिए अपनी कामुक दृष्टि डाले तो कुछ अजब नही, अजब तब होता जब वे प्रबन्ध-काव्य लिखते और 'नागरी'—सीता, शकुन्तला—के बजाय 'गँवारिन' को अपनी नायिका बना लेते। पर यह वे कभी नही कर सकते थे। उनकी सीमा 'सन-बन-ईख' मे सकेतस्थान कायम करने अथवा सामन्त-कृपा-प्रस्तुत विलासो तक ही थी। रोटी और पैसे की बात बिहारी मे खुलकर आ ही नही सकती थी, खुलकर आते वही 'खरेउरोज', 'हँसत कपोलनु गाड', 'दृगमोहनि की चाल'—वही 'रति मे उपस्थ की एकायनता' की बात।

यह 'शोभन और शालीन' बिहारी, उनके सरक्षक सामन्त और उनके हिमायती 'तमाकू पियत लालो' को ही सम्मत हो सकता है। शोभन अनिवार्यत:

कमलायन, शुकनासिका पिकबन ही नहीं हैं और न शालीनता विशिष्टपदीय कुलीन है।

बंगाल के अकाल के सम्बन्ध की कविताओं पर भी आपने वक्तव्य दिया है। कवि ने तीन पक्ति की तेरह में फैलाकर अपना बनिज बढ़ाना' चाहा है 'कला दिखाना चाहा है या भूखे बंगाल का पेट भरना ?'—आप पूछते हैं—सही प्रगतिवादी है न यह कवि ?

जी हाँ ठीक प्रश्न करते हैं आप। किन्तु यह तो बताइए कि प्रगतिवादी से अन्य ने क्या किया ? रोटी का आचार्य मार्क्स' तो आपके शब्दों में, गांड को विदा कर चुका है और उसकी कहानी पश्चिम की है इससे अग्राह्य है। अतः घर में ही उसका उत्तर क्या न लें ? घर में तो उसका उत्तर कर्मफल और कर्मविपाक है ही—क्या ठीक है न ? गाड को मार्क्स तो जरूर विदा कर चुका जिसके नाम पर भारतीय पंडे ने सबसे अधिक दण्ड पेले हैं जिसके नाम पर हाहाकार करती हुई जनता को सन्तोष का पाठ पढ़ाया है। पूरब की कहानी है पेट के सारे साधन दबाकर भूखों को खुदा की ही राह पर रखना। हाँ 'उदरभरी शिक्षा' तो अवश्य पश्चिम से मिली—किन्तु धन-कर्मकाण्डों का नाव तो अध्यात्म पर धरी थी न—जिससे रन्तिदेव की रसोई से उदराग्य मारी गायों के रक्त से चर्मण्वती (चम्बल) बह निकली थी ? सुरआबोरी से हिन्दुस्तान को क्या काम ?—ठीक कहते हैं आप—और तभी तो मदात्यय चिकित्सा का निदान करना पड़ा—तभी अशोक के उसको बन्द करने पर उदरभरियों का क्रोध फूट पड़ा था—तभी नाटकों में विदूषक पेट और लड्डू सम्बन्धी एकमात्र प्रहसन करता है !

गांधी का जिसने विश्व कर दिया है निराला के बल राम का महत्त्व वह क्या समझे ? वास्तव में राम गरीबों का तो है नहीं उसके जाड़े तो आज तक वह काम आया नहीं। वह तो व्यवस्था-स्थापक था नमिवृत्ति में मनु की लीक पर चलने वाला—उस मनु की लीक पर जो ब्राह्मण-क्षत्रिय के सामने से बनी थी जिसने शूद्र की सारी जनता को बेघर बार कर देने के विधान बाँधे थे।—हाँ यह वही राम है जो राजकुमार था पर रंक बना कोल किरातों से मिला नर-वानरों तथा भालुओं की सज्जा और गढ़ तोड़ दिया उस रावण का जिसकी नगरी सुवर्ण की बनी थी—निश्चय यह वही राम था—वही राम जो उस अस्त संस्कृति का अभिशप्त अभिशाप होना था जो उस सभ्यता का निचोड़ था जिसमें तरुणी विमाता और स्त्रैण कामुक पिता पुत्र के अधिकार पर कामुकता का ताण्डव करते थे जो कोल किरातों के मध्य—घनिष्ट जमानवों में—उन पर दया कर मिला (हम किसान अपने बच्चों को भिन्न दिखाकर, प्यार-पुचकार उसे उत्पन्न करता है जब स्वामी घर में मिलता है)—जिन कोल किरातों

को उस सभ्यता ने मनुष्य नही, पशु समझा, जिनका नाम गाली समझकर इसी अर्थ प्रयुक्त हुआ, कवि ने जिनके प्रसग का उल्लेख अपने नायक की शालीनता स्थापित करने के लिए किया,—वही राम जो जगली कोल-किरातो से मिला, पर जिसने घर के शूद्र-अछूतो को वर्णो मे अपने स्थान से हिलने न दिया,—जिसने 'द्विजेतर (शूद्र) तपस्वी' की तपस्या को 'अपचार' कहकर उसे प्रेम से तलवार के घाट उतार दिया,—जिसने धोवी जैसे नीच वृत्तिवाले तुच्छ के कहने पर अपनी पत्नी सीता तक को त्याग दिया,—उस सीता को जिसका नारी के रूप मे स्थान उस धोवी से ऊपर न था,—वह रमणी थी, रमण का साधन, 'उपस्थ' के 'आनन्द की एकायनता' का केन्द्र !—क्यो ? क्या इसलिए कि यदि न्यायत सीता के नागरिक अधिकारो—वैयक्तिक मानव-अधिकारो—यदि वे कही थे—का विचार करते तो इस त्याग की नृशसता शायद उनके पुरुषोत्तमत्व मे बाधक होती ?—और वालि के प्रति आचरण की वात न पूछे ।

सही, 'यहाँ के मनुष्य ने ही यहाँ के मनुष्य को बताया और आज से बहुत पहले ही कि मनुष्य वह कर सकता है जो देवता भी नही कर पाता ।' मनुष्य क्या कर पाये ? देवता से बढकर थे बौधायन, आपस्तम्ब, मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु, बृहस्पति जिन्होने कृपा कर मनुष्य को त्याग और सन्तोष का पाठ पढाया,—और उसे उदरभरी न होने दिया—सच तो यह है कि उसे कुछ दिया ही नही ।—वडी कृपा की, जग-जजाल मे फँस जाता,—और इसीलिए जग-जजाल के विलास-उपकरणो को—धनरूपी गरल को—स्वय उन्होने ही धारण कर लिया !

'यहाँ की कविता की कसौटी तो सर्वहित ही है'—निश्चय, क्योकि 'सर्व' की यहाँ की परिभाषा तो 'पुरुषसूक्त' के ब्रह्मा के मुख और भुजाओ तक ही सीमित है न, नीचे तो 'उपस्थ' है—ऊरु और पद । इस 'सर्वहित' साहित्य मे पिघलता राँगा भी है, यह न भूलिएगा ! कितना साहित्य इस ऊरु और पद के लिए लिखा गया, पूछूँ ? किस वाल्मीकि और कालिदास ने, किस केशव और तुलसी ने उन अछूतो के लिए काव्य लिखा जिन्हे नगर मे रहने का अधिकार न था और जो भारतीयता के उस उत्कर्षकाल मे—गुप्तो के सुवर्ण युग मे—नगर मे प्रवेश करते समय सवर्णो के छू जाने के भय से वाजा वजाते आते थे ?

चोरी और सीनाजोरी का यह ज्वलन्त उदाहरण है । ज्यादती की हद है । सारे जीव्य साधनो को औरो से छीन सारी उदरभरी विभूतियाँ, विलास के उपकरण अपने हाथ मे कर मनुष्य मनुष्य को परमुखापेक्षी कर दे, फिर भी अपने को वह देवता कहे ! राजनीति, समाज, साहित्य, स्वत्व, सबसे वहिष्कृत

की जाती है कि यह बात मार्क्स-पथी को भी प्रिय होगी और उसको इसमे अपने मन का भाव दिखाई देगा।' शायद, पर आपने मार्क्सवादी को यदि कामुक समझा है तो आप सरासर गलती पर है। आपको समझना चाहिए कि पहले-पहल उसने ही देव-बिहारी-पद्माकर एण्ड को० के विरुद्ध लेखनी उठायी, क्योकि वे अपनी कविता मे अनैतिकता, उपस्थवादिता और यौन-नग्नता की उपासना करते है, एकान्त प्रमाद और उच्छृङ्खल ऐयाशी का प्रचार करते है, अमर्यादित पापाचरण के लिए पाठको को शैतान का उत्साह देते है—उसी अमर्यादित कामुकता के अर्थ का जिसका सकेत विद्वान् वक्ता ने अपने 'युक्ताहार-विहार' के अवतरण मे किया है। और इसी कारण 'शोभन का नारी से' निश्चयत लगाव वह नही मानता। शोभन का लगाव नारी से वस्तुत वह रोटी की बात को घृणित मानने वाला, बुभुक्षित को पापी मानने वाला, अमार्क्सवादी, अप्रगतिशील पुण्यात्मा मानता है, जिसने नारी को 'नरक का द्वार' माना है, काम की सिद्धि के अर्थ नारी को 'कामिनी' सज्ञा प्रदान की है, उसे रमण का साधन मान 'रमणी' घोषित किया है। उसकी सारी 'रमणीयार्थप्रतिपादकता' रमणी-लवगी तक ही सीमित है। शोभन का लगाव नारी से, केवल नारी से, 'मार्क्सपथी' प्रगतिशील नही मानता, नही मान सकता, नही मानेगा। उसका सवध 'क्लियोपात्रा की नाक की लम्बाई' से हरगिज नही हो सकता और उसके 'शोभन' का केन्द्र 'कामिनी' की कामना अथवा 'रमणी' की रमणीयता से कही ऊपर उठ जाता है। नारी मे वह स्वस्थ नारीत्व को ही शोभन मानता है, उसके पातिव्रत-सतीत्व मे इतना नही जितना उसके बुद्ध-मार्क्स के जननत्व मे।

और फिर मार्क्स के प्रयास और सिद्धान्त को आपने नही समझा। सूर्य पर थूककर नहाने से अतिरिक्त स्नान के और तरीके भी है, आप इसे क्यो भूलते है? 'सुखाभावो दु खमिति' मार्क्स के सम्बन्ध मे कहकर आप ससार के सारे तर्कशास्त्र को लजाते है, आप शायद यह नही जानते। कुछ भेड, मुमकिन है, आपके साथ थपोडी पीट ले, परन्तु तथ्य जानने वाला कोई विद्वान् इस प्रकार अभिमन्यु के शव पर जयद्रथ के पदाघात को देख घृणा से मुँह फेर लेगा। जितना मार्क्स ने सब-कुछ मुहैया होने पर भी सिद्धान्त के लिए सुख से मुँह मोड़ दु ख से सघर्ष किया है, उतना भारतीय आचार्य ने नही, और इतना होने पर भी 'कैपिटल' का वह प्रणयन करता रहा। उसके पास न तो यजमानो का 'सीधा' था, न राजाओ का दान, उनका तो वह भय था।

और भेड के पीडित बच्चे को, बुद्ध की तरह, वह घर किसके रखता?—बच्चे का घर कहाँ था?—क्या अनाथपिडित के 'आउट हाउस' मे? उसी घर को उस बच्चे के लिए जीतने का प्रयास, पडितजी, मार्क्स का प्रयास है। और 'सघ-बुद्धि' तथा 'भेडियाधसान' उसका नही है, 'नेमिवृत्ति' वालो का है, लीक

पर चलने वालों का। इसका निर्घोष पहले पहल ऋग्वेद के समाना मन्त्र समिति समानी पाठ में है। फिर एक बात और सब बुद्धि भेड़ों का भेड़िया धसान नहीं, बड़ी आदरणीय वस्तु है। बुद्ध ने इसकी बड़ी सराहना की है। इसी की व्यवस्था पर प्रतिष्ठित रहकर शाक्यों लिच्छवियों ने यशलाभ किया था मालव-क्षुद्रकों ने सिर दर के दांत खट्टे किये थे। इसके अभाव की कहानी भारत के अधोऽध पतन की कहानी है। इसी के अभाव में भारत के अतीत ने वह रूप धारण किया जो पाडेजी को खटकता होगा—जिसमें जूझते सांगा के पास ही फतहपुर सीकरी का किसान हल जोत रहा था बख्तियार द्वारा कटते नालन्द के भिक्षुकों के पास ही जयदेव गीतगोविन्द गा रहा था सत्तावन के गदर में भारतीय रियासत मुह देख रही थी।

पीड़ित का उद्धार करुणा के हाथ है द्वेष के नहीं। ठीक है। पर काश इसे राम ने समझा होता! सारे भारतीय इतिहास में एक प्रसंग नहीं जहाँ जाय हिन्दू ने अथवा संसार की किसी शक्ति ने पीड़ित के उद्धार के लिए करुणा का सहारा लिया हो। सदा लोहे से लोहा बजाकर वास्तव में रोटी अथवा जमीन का मसला तै किया गया है। प्रेम से न तो रामायण बनी, न महाभारत। यत्न यत्न हि धर्मस्य—की परम्परा में यही सत्य निहित है।

रति रोटी लीला का प्रभाव मार्क्स फ्रायड का नहीं दशरथ-कृष्ण का है—दशरथ की तीन नारियों से कृष्ण की सोलह हजार तक का। और यदि इस 'युक्ताहारविहार' में आपने मानवता के विकास और मानव-कल्याण के स्वप्न देखे तो आप निश्चय निरे भोले हैं। और अन्त में अन्न को ब्रह्म की संज्ञा देकर आपने प्राचीन आचार्यों की अन्नब्रह्म की उपासना याद दिला दी! अन्न ब्रह्म का संकेत क्या मार्क्स के रोटी के आधारत्व से कम है? और आपने तो निरन्तर अपने वक्तव्य में रोटीवाद की क्षुद्रता का रोना रोया है, फिर यह उद्गार क्या—अन्नब्रह्म सभी ब्रह्म में प्रबल प्रकट और प्रत्यक्ष है!

यह कहकर तो आपने अपनी सारी प्रतिज्ञा ही रद्द कर दी। सही, कवि को लक्ष्मी नहीं चाहिए पर भोजन छाजन के बिना कविता कब तक हो सकेगी? निदान उसको इतना तो मिलना ही चाहिए कि उसको पेट की चिन्ता न रहे। (बड़ी बात!) और पेट से निश्चिन्त हो शोभन और शालीन की छवि उतार मानव को शिष्ट सुशील और दिव्य बनाये। परन्तु इस संरक्षा की भीख से कब तक पेट पलेगा? और यह संरक्षा किसकी? प्राचीनों ने तो सामन्तों की स्वीकार की। अब वे क्या करें? राजनीति में तो जनता है सार्वजनिकता। फिर यदि उसकी करें तब तो साहित्य जीवन और जन से सम्बद्ध होकर प्रगतिशील हो जायगा—फिर शोभन और शालीन' की व्यवस्था कैसे होगी? परन्तु आपकी संरक्षकता शायद पूंजीपति से सम्बन्ध रखती है जिसको आपने दोनों हाथ

उलीचनो' का उपदेश दिया है।

दोनो हाथ उलीचे हुए दान का लाभ या तो दरिद्र यजमान-सेवी प्रमादी ब्राह्मण को होगा या ग्रहण मे दान लेने वाले डोम को। श्राद्ध के 'करन्नो' की भाँति भारतीय जनता अब इस दान की अपेक्षा नही करेगी और साहित्यकार तो हरगिज नही, अपने अधिकार को वह गिडगिडाकर नही माँगेगा और भरत-वाक्य के रूप मे जो आपने अपनी 'विनय' रखी है वही आपके वक्तव्य मे एक-मात्र समझदारी की वस्तु है, परन्तु आपने शायद नही जाना कि इस विनय का सारा भावस्रोत मार्क्स के विचारो से प्रभावित है। 'हाँ शान्ति जाति-विद्वेष, वर्गगत रक्त समर ··सयुक्त कर्म पर हो सयुक्त विश्व निर्भर' मे मार्क्सवादी दृष्टिकोण की इकाइयाँ और उनकी उपलब्धि सभी निर्भर है। कहाँ रही आपकी 'प्रतिज्ञा', कहाँ 'सिद्धान्त', कहाँ 'मीमासा' की व्याप्ति ?

१६

मध्य एशिया का इतिहास

मध्य एशिया का इतिहास महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के नवीनतम ग्रथो मे प्रधान है और जहा तक मुझे ज्ञात है इस प्रकार का कोई ग्रथ क्रिया और विन्यास वस्तु और विस्तार दोनो दृष्टि से किसी भाषा मे नही निकला। जब मैं अन्य भाषाओ की बात कहता हूँ तब अंग्रेजी और रूसी तक को नही भूलता। अंग्रेजी मे मैं जानता हू इस प्रकार का कोई ग्रथ समूचे मध्य एशिया सम्बन्धी पुरातत्व और इतिहास का एकत्र समाहित करता नही लिखा गया। इस महान क्रियाशील और सुविस्तृत भूभाग का खडश इतिहास यत्र तत्र बहुत ऐतिहासिक प्रकाशनो मे अशत निस्सन्देह लिखा गया है परन्तु सावयवीय (आर्गेनिक) दृष्टि से ससार की भाषाओ मे एक भी ऐसा ग्रथ नही जिसमे मध्य एशिया का सर्वांगीण एकस्थ एतिह्य प्रस्तुत हो। रूसी भाषा मे इधर इतिहास और पुरातत्व की दिशा मे भी काफी उपक्रम हुए है, और पुराविद ने अपने खनित्र के पराक्रम से सदियो सहस्राब्दियो पुरानी सामग्री हमे उपलब्ध कर दी है। सम्भवत उस भाषा मे मध्य एशिया के ऊपर लिखी पुस्तकें भी है पर प्रस्तुत ग्रथ के समीक्षक की नजर मे कोई ऐसी पुस्तक नही आयी जिसमे ईरान ईराक अरब और भारत पर भी प्रभाव डालने वाले जाति सक्रमणो और सभ्यताओ का विवेचन हो। रूसी ग्रथो की सामग्री का विस्तार बेशक बडा है पर उनकी सीमाए भी सोवियत सघ की राजनीतिक सीमाओ तक ही सीमित रह जाती है—उराल से पामीरो और कराकारम तक और चीनी सरहद से अजरबैजान और प्राय गुर्जी तक। पर मध्य एशिया का विस्तार बस इतना ही तो नही है और उसकी सभ्यताओ जातीय सक्रमणो और प्रवहमान प्राणवान जीवन के उपक्रमो अध्यवसायो के प्रभाव का विस्तार तो और भी बडा रहा है जो एक जमाने मे एक ओर हिंदेशिया और भारत से लघु एशिया और तुर्की तक, और दूसरी ओर मिस्र से और स्पेन से मगोलिया जापान तक फैला रहा है। महापण्डित सांकृत्यायन

ने ग्रथ के दो भागो मे, प्राय. वारह सौ पृष्ठो के विस्तार मे, इन्ही जातियो के उत्थान-पतन की कहानी अपने दूरगामी प्रमाणो के साथ लिखी है। ग्रथ यह परिणामत· स्वाभाविक ही इतिहास-लेखन के क्षेत्र मे क्रान्तिकारी और व्यापक महत्त्व का है। और विशेष गौरव की वात यह है कि इस महाकृति का ग्रथन हिन्दी भाषा मे हुआ है। हिन्दी भाषा के वढते हुए आयाम का यह ज्वलत परिचायक है। सन्तोष की वात है कि देश की साहित्य-अकादेमी ने इस प्रयास पर लेखक को पॉच हजार रुपयो द्वारा पुरस्कृत कर ग्रथ की उपादेयता स्वीकार की है।

इसमे मन्देह नही कि मध्य एशिया का यह इतिहास ऐतिहासिक सामग्री की सहिता है, पर निस्सन्देह सहिता ऐसी, जैसी महाभारत और पुराणो की है, जैसी वेदो की है, जिनमे सारा समसामयिक जीवन और साहित्य सकलित कर दिये गये है। परन्तु सहिता यह नितात वैज्ञानिक है, जिसमे मूल ऐतिहासिक शोध के परिणाम निवन्धित है और सामग्री, जो अनन्त प्रयास से वसुधा को कुदारी द्वारा विदीर्ण कर प्रस्तुत हुई है, वह तोल निरख कर अपने ऐतिहासिक सार्थकता के साथ प्रसगत. ग्रथ मे एकत्र की गयी है। यह असीम सामग्री जो इस ग्रथ के पृष्ठो पर वरस पडी है, अव तक पठ्य रूप मे एकत्र कही उपलब्ध न थी, और इस दिशा मे जो कुछ सर आरेल स्टाइन ने किया भी था, वह भी इधर हाल मे पाठको के स्मृतिपटल से मिट चला था। मध्य एशिया के सम्वन्ध की सामग्री प्रसूत करने वाले ऐतिहासक केन्द्र अधिकतर सोवियत भू-प्रसार की सीमाओ के भीतर है और उस तथाकथित लौह-प्राकार से हमारे पण्डितो ने जैसे सक्रिय उदासीनता की शपथ ले ली है। वस्तुत यह भय की सकीर्णता है, नि सन्देह उससे भी वढकर अज्ञान की सकीर्णता, और रूसी मूल के अज्ञान की वात परदे मे रख कर उपेक्षा के लिए सोवियत की असामाजिक प्रवृत्ति की सकेत की आड ली जाती है। लोग यहाँ तक भूल गये है कि विज्ञान मे पूर्वाग्रह नही होते और पूर्वाग्रहो का परिणाम यह हुआ है कि सोवियत खनिको द्वारा उपलब्ध की हुई अत्यन्त मूल्यवान सामग्री उनके अध्ययन से परे रह गयी है। परन्तु उन्होने अपने प्रमाद और प्रखरता की कमी के कारण जो खो दिया है, वह इस ग्रथ के कलेवर मे समाहित कर महापण्डित राहुल ने इतिहास के पाठको को अत्यन्त लाभान्वित किया है। ग्रथ के दोनो भाग इसके स्पष्ट प्रमाण है।

ग्रथ के इन दोनो भागो मे प्राय एक दर्जन प्रधान अध्याय है, वीसियों प्रकरण और सैकडो लघु प्रकरण हैं और ग्रथ की उपादेयता अनेक परिशिष्टो, मानचित्रो तथा प्लेटो से वढा दी गयी है। प्रस्तुत पुस्तक के अन्त मे सहायक ग्रथो की सूची वडी मूल्यवान है और प्रतिपादित विषय से सम्वन्धित मूल

साहित्य का प्रभूत परिचय देती है। नि सन्देह प्लेटा म प्रकाशित मुन्दए ब्लाक छपाई की दृष्टि स रुचिकर नही है, पर वह दोष हमारे मुन्दण की परिमित सीमाओ का है वस समूची पुस्तक की साधारण छपाई किमी अथ म असुन्दर नही कही जा सकती। पर विद्वान लेखक ने जा ग्रथ क अन्त म रूसी शब्दकोश का एक परिशिष्ट जोड दिया है उसकी प्रासगिकता समझ म नही आती। वस रूसी और भारतीय भाषाओ का पारस्परिक सम्बन्ध निसन्देह ज्ञानवद्धक अध्ययन हो सकता है।

ग्रथ म मध्य एशिया क इतिहास और पुरातत्व का प्रणयन हुआ है और तत्सम्बन्धी सामग्री का अध्ययन कालमान की दृष्टि स अत्यन्त प्राचीन और प्रागतिहासिक युगो के आरम्भ म हुआ है यहा तक कि ग्रथकार ने पृथ्वी पर प्रथम मानव के अवतरण की ओर भी प्राणिविज्ञान की दृष्टि से सकेत किया है फिर भी ग्रथ का यह अग सवथा सम्मत नही माना जाएगा और कुछ आश्चय नही जो इतिहास और पुरातत्व क पण्डित इस अश के इतिहासपरक वर्तानिकता म सन्देह करें। यह सही है कि इतिहास पुरातत्व नृशास्त्र जातिशास्त्र और चराचर सम्बन्धी विज्ञान आमूल पोर पोर परस्पर जुडे हुए हैं अद्यावधि इतिहास तक फिर भी उनका अध्ययन स्वतन्त्र विविध विज्ञाना क अन्तगत होता है। इससे अनेक विद्वान सम्भवत यह उचित समझते कि पूरा पाषाणकाल और प्रागतिहासिक युग स प्रारम्भ कर मानव सभ्यता की प्रगति इस ग्रथ म अधीत हुई होती और मानव का धरा पर प्रादुर्भाव जीवशास्त्र अथवा नृशास्त्र क अन्वेषका क लिए छोड दिया गया होता। फिर भी मानवजाति का प्रारम्भ और उसका विविध बबर और सभ्य परिस्थितिया स होकर अद्यावधि विकास का एक दष्टि म समालोकन सवथा अथहीन भी नही और वह एक विचार स उपादेय हो सकता है। इस दष्टि से ग्रथकार का यह प्रयास निश्चय स्तुत्य है और विद्वानो का ससार ग्रथकार क अनवरत श्रम अनन्त जिज्ञासा और सतत खोज स उपलब्ध ग्रथ की प्रामाणिक सामग्री क प्रति ऋणी होगा। जहा तक सामग्री के सकलन की बात है नि सन्देह उस दिशा मे कोई त्रुटि नही हुई है। ग्रथ के लिखने की शली जरूर वणनात्मक अधिक है नितात सहज शायद तर्कात्मक कम। सम्भव है कुछ लोगो को लगे कि भाषा यदि तनिक और गठी होती तो सामग्री उसम कस गयी होती कुछ इतनी ढीली न होती और प्रौढ भाषा मे विचार तथा परिणामत निष्कर्षात्मक निणय भी यदि विशेष आग्रह के साथ प्रस्तुत किय गय होते तो वणन की ढिलाई इतनी स्पष्ट न होती और सामग्री सवत्र अन्न को उसकी भसी म अलग कर सकी होती। फिर भी जो है वह असाधारण है और इतिहास के चोटी के पण्डितों को हैरत म डाल देने वाला है।

ग्रथ के कलेवर के अनुरूप ही उसमे अधीत ऐतिहासिक कालक्रम का प्रसार भी है, शताब्दियो और सहस्राब्दियो के अनन्त युग उसमे समाये हुए है। उनके विस्तार मे अनन्त जातियाँ, मनुष्यो के असख्य सक्रमणशील दल, बसने-मिटने वाली बस्तियो, उठती-गिरती सभ्यताओ की अटूट शृखलाएँ, अभिन्न मानवता के निर्वध सम्मिश्रण, इस ग्रथ के चित्रपट पर धारावाहिक रूप से दृष्टिपथ मे उदय और विलीन होते चले जाते है। कार्पेथियाई और कोहकाफी ऊराली, पामीरी और थिएनशानी गिरिमालाओ से घिरी नदियो की घाटियो मे कबिलाई बस्तियाँ एक के बाद एक उठती है, सक्रिय होकर समस्याएँ-सस्कृतियाँ अभिसृष्ट करती हे, उनके बहुरगी वितान बुनती है, और आने वालो को अपनी विरासत सौपती स्वय सघर्ष करती मिट जाती है। रोमी और आर्य, मीदी और ईरानी, शक और ऋचिक, हूण और तुर्क, मगोल और मुसलिम, चीनी और अफगान और हिंदू विभिन्न होकर भी एक-दूसरे का जोड सदा पा जाते है, एक-दूसरे से टकरा जाते है, टूट जाते और बिखर जाते है, पर उनकी यह एकस्थ दाय काल के युग भी नही मिटा पाते। अनन्त जातियो का यह ग्रथ-गत परिवार कितना निस्सीम है, उनकी शृखला कितनी अटूट।

मुझे सदा ऐसा लगता रहा है कि जब तक हम ऊर और नितेवे, कला और असुर, बाबुल और इलाम के भग्नावशिष्ट टीलो पर खडे होकर अपने चारो ओर दूर तक उस खुले मैदान मे दजला और फरात की मध्यवर्ती ऊँचाई से नजर न फेकेगे, बाबुल मे प्रवेश करते कस्सियो की, पश्चिमी एशिया को रौदते खत्तियो की और हिंदूकुश की ऊँचाइयो से सप्तसिंधु के मैदानो मे उतरते आर्यो की पगचाप जब तक न सुनेगे तब तक भारतवर्ष का इतिहास हम सही-सही न समझ सकेगे। महापण्डित राहुल का यह अमूल्य ग्रथ, न केवल मृत इतिहास को सजीवित करता है, भारतीय इतिहास की समझ सहज करता है, बल्कि इसके पारायण से अनेक ऐतिहासिक ग्रथियाँ सुलझ जाती है, अनेक गाँठे खुल जाती है। अपनी अनन्त बहुमुखी सामग्री के इस महान् सग्रहयिता और व्याख्याता ने, उसकी परिधि को जिस विश्वास, धैर्य और श्रम मे बाँधा है, वह इधर के युगो मे सर्वथा अनजाना है। श्री साकृत्यायन के इस युग-ग्रथ का अभिनन्दन करते हुए हम पाठक-वर्ग का ऋण उनके प्रति प्रकट करते है। उनकी यह मूर्त्तमती प्रतिभा अमर हो!

का एकत्रीकरण। पर तब प्रश्न यह होता है कि जो रूप उनका पुराणों में है वही यदि यहां भी रहा तब वे पुराणों में ही क्या बुरी थी ? जैसे पुराणों में उनका जंगल बन गया है वैसे ही इस पुस्तक में है और उनके बीच से राह पाना असम्भव हो गया है। सारा श्रम का अपव्यय प्रतीत होता है। आवश्यकता इस बात की थी कि यह कार्य अशत किया जाता। पुराणों पर सौ नो सौ पुस्तकें हों तो कुछ अधिक नहीं होगी पर उनका प्रणयन तर्क और न्यायपूर्वक होना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक सर्वथा अवैज्ञानिक है। विषय न जानने वाले को गुमराह करेगी, आधे जानकार को विभागग्रस्थित करेगी और जानकार को तो इस अवैज्ञानिकता पर क्रोध होगा। इस प्रकार के ग्रन्थों से इतिहास और समाज विज्ञान का बड़ा अपकार होगा। पहले तो इसका मूलाधार ही गलत है। कुछ ऐसी पुस्तकों का सहारा लिया गया है जो सर्वथा अवैज्ञानिक हैं जैसे ऋग्वैदिक इण्डिया और ऋग्वैदिक कल्चर जिनके रचयिताओं का दृष्टिकोण आज से कोई पचास वर्ष पूर्व ही अवैज्ञानिक करार दे दिया जा चुका था और संसार का कोई भारत सम्बन्धी इतिहासकार उसका नाम सुनते ही नाक सिकोड़ लेगा। जो ऋग्वेद की ऋचाओं को आर्यों की आदिम भूमि भारत में सिद्ध करने के लिए उसमें भी प्राचीन माने जब पंजाब से दक्षिण पूर्व की भूमि समुद्र के नीचे था वह सम्भवतः इतना भी नहीं समझ पाता कि वह काल तब सहस्राब्दियों में नहीं लक्षाब्दियों में गिना जायगा और यह भी संदिग्ध हो जायगा कि मनुष्य जीव के रूप में तब अभी विकसित भी हुआ था धरा पर उतरा था। ऐसा व्यक्ति यदि पुन्त को सिन्ध कहे तो कुछ आश्चर्य नहीं। पर मिस्र के इतिहास का जानने वाला जिसने फराऊनों के विजयाभिलेखों पर नज़र डाली है अनायास कह देगा कि उनके ये अभियान समुद्र पार मालाबार या तमिलनाड पर न होकर उस सोमाली तट पर होते थे जो लाल सागर के तट पर अफ्रीका का ही भाग था और जहां जाने के लिए दुस्तर मरुभूमि को छोड़ सेनाएँ बराबर समुद्रतट से जाती थीं जहाजों में भर भर कर।

मगर पुन्त को सिन्ध मानने का एक राज है। जब सिन्ध में द्रविडों का प्रभुत्व था, सैंधव सभ्यता उन्हीं की थी। और जब प्रयास मिस्र सुमेर अक्काद एलाम सबल की सभ्यता को द्रविड प्रेरित और द्राविड प्रमाणित करना हो तब सिन्धु को पुन्त मानने में उसके लिए आसानी होगी। जिस प्रकार कुछ लोगों ने संसार की सारी जातियों और सभ्यताओं को आर्यप्रेरित मानकर सभी नामों की ध्वनि बदलकर संस्कृत कर देने के प्रयत्न किये—और जिनमें ऋग्वैदिक इण्डिया के रचयिता अविनाशचन्द्र दास का स्थान सर्वोपरि रहा है—उसी प्रकार कुछ नाभिणाय गाल बुझक्कड़ों ने नील और दजला फरात की

घाटियो, फिनीशी, सुमेरी, अक्कादी, एलामी, भूमध्यसागर तक की सारी सभ्यताओ को द्रविड जाति द्वारा प्रसारित मान लिया और 'सारे विश्व को आर्य करने' की भाँति ही 'सारे विश्व को द्रविड करने' के भगीरथ प्रयत्न किये। उनमे रामचन्द्र दीक्षितार अग्रणी है। दीक्षितार के 'आरिजिन ऐण्ड स्प्रेड ऑफ द तमिल्स' के जोड की अवैज्ञानिक पुस्तक दूसरी नही लिखी गयी। रागेय राघव की पुस्तक का द्राविड भाग सर्वथा इसी दीक्षितार के ग्रथ पर अवलम्बित है।

इसी प्रकार स्वामी शकरानन्द की पुस्तक 'ऋग्वैदिक कल्चर ऑफ द प्रीहिस्टारिक इण्डस' का मात्र उद्देश्य सारे वैज्ञानिक तर्को के विपरीत सैन्धव-सभ्यता को आर्य-सभ्यता सिद्ध करना है। आलोच्य ग्रथ उसके प्रमाण भी ब्रह्म वाक्य की भाँति स्वीकार करता है। राजेश्वर गुप्त की 'द ऋग्वेद—ए हिस्ट्री शोइग द फिनीशियन्स हैड देयर अलिएस्ट होम इन इण्डिया' भी इसी दृष्टि से अनुप्राणित है और लिखी भी गयी थी, दजला-फरात घाटी की सभ्यताओ की खुदाई से काफी पहले कुछ वैदिक ऋचाओ के तोडे-मरोडे अर्थ पर, कुछ अटकल और इच्छित निष्कर्ष पर और कुछ खुदी सामग्री की अधकचरी व्याख्या पर अवलम्बित होकर। 'हिस्टोरियन्स हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड' की जिल्दे १९०८ मे प्रकाशित हुई और आज वे इस कदर पुरानी और 'आउट-ऑफ-डेट' मानी जाती है कि उनके इतने सालो से आउट-ऑफ-प्रिण्ट होने पर भी उनका नया सस्करण करने का साहस उनके प्रकाशको को नही हो रहा है। पिछले वर्ष मिस्र, फिलिस्तीन, क्रीट, सुमेर, बाबुल, असुर, खत्ती, एलाम, सिन्ध, चीन आदि के प्राचीन इतिहास पर मेरी पुस्तक 'द एन्शेन्ट वर्ल्ड' प्रकाशित हुई। उसे लिखते समय मैंने देखा कि सन् '२७ से लगातार मध्यपूर्व मे होने वाली खुदाइयो पर कम-से-कम सौ ग्रथ ऐसे प्रकाशित हो गए है जिन्होने पुरानी पोथियो को सर्वथा व्यर्थ कर दिया है। जिन पेन्सिल्वेनिया और शिकागो विश्वविद्यालयो के 'प्राच्य विभाग' (ओरिएण्टल इन्स्टिट्यूट) ने सम्मिलित रूप से इन खुदाइयो का सचालन किया था उनके ही आमन्त्रण पर उनको खोदकर निकाली पट्टिकाओ की मुझे इस विचार पर परीक्षा करनी पडी कि अलाय-वलाय (अलिगी-विलिगी) के मूल एलूला-वेलूला की ही भाँति वैदिक शब्दो के दूसरे मूल भी तो उनमे नही (जिस खोज के आधार पर न्यूयार्क के एशिया इन्स्टिट्यूट की 'कालोकिया' मे डाक्टर गाइगर की अध्यक्षता मे मेरे व्याख्यान हुए) और उस सामग्री का जब स्मरण करता हूँ तब प्रस्तुत ग्रथ को देखकर सिर पीट लेने की इच्छा होती है। उधर के खोजियो की दृष्टि यदि इस प्रकार के भारतीय प्रकाशनो पर पड जाय तो हमारे अज्ञान और अवैज्ञानिक साहस पर उन्हे असम्भाव्य आश्चर्य हो। कितना अभाग्य है इस देश का कि जहाँ

खोजों की वैज्ञानिकता पर प्रिसप और शापोल्यो जैसे पण्डित जानिसार हो रहे हैं वहां हमारा पल्लवग्राही पाण्डित्य इसी में अपनी वीरता और गौरव समझता है कि वह किसी तरह प्रमाणित कर दे कि द्रविड या आर्य ही सारी सभ्यताओं के प्रवर्त्तक या जनक थे।

'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' में सारे आर्येतर गौरव को द्राविड मान लिया गया है और आर्यों की सत्ता शेष पर स्वीकार कर ली गयी है। देव और असुर, रक्ष और यक्ष आदि के सम्बन्ध में जो उसमें विचार हुए हैं उनका उल्लेख करना ज्ञान और तर्क का अपमान करना है। उसका कारण यह हो गया है कि गोया पुराणों में कपोलकल्पित कुछ है ही नहीं, ऋग्वेद या अन्य वेदों में जो कुछ है सर्वथा मासल ही है। रावणों की एक परम्परा है इन्द्रों की दूसरी। यह इन्द्र को मनुष्य समझने वाली कहानी को तो उसी प्रकार अब तक काफी तूल दिया जा चुका है जिस प्रकार आर्यसमाजियों की पीढ़े पर बैठकर भोजन करने और शिखा रखने की व्याख्या की वैज्ञानिकता को। यानी ऋग्वेद स्वयं जिन देवताओं के अतिरिक्त पृथ्वी आदि सम्बन्धी तीन वर्ग करता है वे सूर्य, वरुण, मरुत आदि प्रकृति के अवयव सभी मानव पिण्डधारी हैं। सारे पूर्वीय जगत में कृषि के शत्रु और जल पर कुण्डली मारकर सूखा उत्पन्न करने वाले दैत्य को सर्पिल माना गया है (वेद में इन्द्र ऐसे पुच्छ प्रधान वृत्र पर वज्र मारता है, बाबुली वेद में मर्दुक ऐसे ही पुच्छधारी तियामत पर चोट करता है चीन में अकाल से रक्षा करने वाले ड्रगन को सौभाग्यसूचक अवश्य माना जाता है पर उसका रूप अजगर का ही है), पर हमारे ग्रन्थकार और उसके पूर्ववर्ती आधार-पण्डितों को उस वृत्र में मानव रूप ही मिलता है।

ध्वनि का लोभ इतना है कि जहाँ जिस वन्य संस्कृत या तामिल शब्द का ध्वनि का साम्य अन्यत्र मिलता है वहाँ सर्वत्र द्रविड या आर्य विचरण करने लगते हैं—कास्पियन सागर से नील नद तक, तूरान से भूमध्यसागर और सीरिया के तौरस पर्वत तक। यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, असुर, दानव, दैत्य, देव, आर्य पहले दास्य के विभिन्न भाग में उत्पन्न हैं फिर सभी एक ही मूल दम्पति से प्रजनित-से दिखाई पड़ने लगते हैं और उनके सम्बन्ध के प्रमाण पढ़ने समय ध्यान की एक विडम्बना पर रोना आ जाता है। यह भी भुला दिया जाता है कि साधारण तौर से सारी जातियों के पुराणों और सृष्टि (जनसिस) को घुमाकर से असमुली या एक ही दम्पति से उत्पन्न मानवता की कल्पना की गयी है। उसमें स्वाभाविक ही है कि जातियाँ आपस में भाई-बन्धी लगें पर उनको एक ही कर देना सर्वथा अवमानित है। अनेक स्थलों में अनेक समयों में जातियाँ उगीं और विकसीं उनको सर्वत्र द्रविड या आर्य मानना या उनका

अवैज्ञानिकता का एक ज्वलन्त उदाहरण इस पुस्तक के पृष्ठ ७५ पर पढिए—"सुवाहु, श्रीवह्, सुरन तथा सुवल साइथियन्स (जरा उच्चारण पर गौर कीजिए !) की सु-जाति के थे। हिरण्यकश्यप तथा हिरण्याक्ष का नगर ही हिरण्यपुर था।...यह हाइरकेनिया नगर कैस्पियन समुद्र के पास था। मीडिया (भद्र—वह कैसे ?) के उत्तर का देश कैम्पी या काम्पियन था। अरियाना के उत्तर-पूर्व मे दानवो का हिरण्यपुर था। सरमा कुक्कुरी कैस्पियन के उत्तर मे रहने वाली सरमेशियन थी। शब्दो मे भी साम्य हे (वह गौण नही, वही तो प्रधान है !) कथाएँ गज, कच्छप, सुपर्ण, आर्य्य, कश्यप, गरुड। कैस्पियन—क्षार सागर—क्षीरवान सागर। अर्मीनिया—रमणियक द्वीप। अल्वानिया—अलम्व (एक साहव 'जर्मन' शब्द को शर्मन सिद्ध करते थे और जब उन्हे वताया गया कि जर्मन लोग अपने देश को जर्मन कभी नही कहते, ड्वायत्श्लैण्ड कहते है, तब उन्हे तारे दीख गये !)। इस सब वस्तु-दृश्य का स्थान अल्वोपेशियन, मीडिया, कैस्पियाना, अर्मीनिया, अल्वानिया है, अर्थात् ट्रान्स-काकेशियन रियासते। गरुड असल मे शाल्मली द्वीप (चैल्डिया) वासी था। उसका पिता कश्यप लौहित्य अथवा एरिथ्रियन समुद्र के उत्तर मे तप करता था। कद्रू और कुर्द जाति मे समानता है। क्या कश्यप की स्त्री उसी जाति की थी ? भविष्य पुराण मे जिस मित्रावरुण का उल्लेख है, सम्भवत. वह मितन्नी ही है।"

इसी प्रकार आपने एक स्थल पर द्राविड (मातृ देवी) के प्रसग मे तमिल अम्मा और मिस्री अम्मन को एक ही देवता माना है—मातृ देवी। अपने आग्रह की धुन मे यह भी खयाल न रहा कि मिस्री अम्मन देवी नही देव है, पुरुष और रा के साथ आमेनरा के साथ वह देवाधिदेव, देवताओ का राजा है। फिर शुद्ध शब्द आमेन है, जिससे आमीन् वनता है।

यह जैसे भगवान जैमिनि कादम्वरी मे ऋषियो के सामने वैशम्पायन का जीवन-वृक्ष भेद उसका रहस्य खोलते जा रहे है। 'था', 'थी', 'थे', 'ही' कह देने से कुछ प्रमाणित नही होता। सामग्री अपने-आप प्रमाण वनती चली आती है। यह तो सारा-का-सारा कटेगरी (फैलसी) है और इसी प्रकार के वक्तव्यो मे समूचे ग्रन्थ का कलेवर वना है। त्रुटियो से ही उसकी काया सिरजी गयी है और उनकी सविस्तार व्याख्या की जाय तो इस पुस्तक पर वीस पुस्तके लिखने की आवश्यकता पडे। अध्याय-के-अध्याय पुराणो की तालिकाओ से, उनकी अधकचरी सामग्री से, अन्य ग्रन्थो के माध्यम से, व्यर्थ भर दिये गये है। लेखक के भाग्य से पार्जिटर, प्रधान और पचानन मित्र का उससे पहले हो जाना उसके इस कार्य मे सहायक हो गया है। अनेक ग्रन्थ, लगता है जैसे प्राय समूचे, इसमे समाये हुए है। वैदिक-इडेक्स, असुर इण्डिया, ऋग्वैदिक कल्चर और ऋग्वैदिक

इण्डिया ओरिजिन एण्ड स्प्रेड आफ द तमिल्स एपिक मिथालाजी, यशाज आदि अय अनक सवथा अवज्ञानिक पुस्तका क अवतरणा क साथ इसके सकडो सकडा पृष्ठो म विराजमान है। इनम केवल वदिक इडेक्स और यक्षाज्ञ काम के हो सक्त थ यदि उनका उपयाग पूवाग्रहपूवक न किया गया हाता।

यहा तक कि उद्धरण दत समय जा उह पचाया तक नही गया है तो भाषा भी दूषित हो गया है, उसके प्रयय आदि म भी अग्रेजियत घुस आयी है। उदाहरणाथ—पलियालिथिक स्टज, नियोलिथिक, हवशी तत्त्व (एलिमण्ट का अनुवाद अश के स्थान म) अफ्रीकन आस्टेलियन आस्ट्रो एशियाटिक आस्ट्रो पोलिनीशियन तिजतो-बमन ग्रुप टाइब समटिक (सामी) हेमेटिक (हामी) सिमाइटस (बहुवचन तक अग्रेजी द्वारा ही बनत है) हिमाइटस पस्टाइन फिनीशियन हिब्रू (इब्रानी) सीरियन असीरियन, चल्डिया (गलत उच्चारण स—शुद्ध ग्रीको का गल्दिया=खल्द) चल्डियन ऐरिड (इ का उच्चारण वे नही करत थे द करते थे) तुरानी प्रोटा मीडीज कम्बोडिया मालोमन जरथुष्ट हितात्त (स्वय व अपन को खत्ती कहत थ दूसर हत्ती पर हमारा अग्रेजी ग्रयकार उह हिताइत कहगा!) बबिलोनिया, सुमरियन अक्काड मसोपोतामिया ल्टिन पोलिनेशियो मुख इथियोपियन अबीसीनियन, (गाया अतिम दोना दो है!) सबियन। स्थानाभाव से यहा केवल थाड से शद दिय गय हैं। इनकी हिदी हो सकती थी और हिदी इनकी है जिनका प्रयाग भी हिदी म होन लगा है।

यह कहना कि— पसिफिक (प्रशात?) महासागर म भारतीया की समुद्र यात्रा तथा अमरिका तक जाना कोलम्बस स बहुत पूव आय्य द्रविड पूव जातिया म प्रचलित था। बाद म ये जातिया मिल गइ। जब प्रशात महासागर (कही पसिफिक कही प्रशात का प्रयोग!) के द्वीपा म यूरोपवासी पहले पहल गये तब वहा क निवासियो ने उह बताया था कि वे सदिया पहले मलाया द्वीप समूह तथा एशिया की आर से आए थे (पृष्ठ ४५) —नितात निरथक है। पहल तो यह बिल्कुल असम्भव है कि उन जातियो को किसी मलाया द्वीप समूह का नाम भी रहा हो फिर उनक (यदि उहान ऐसा कहा भी हो) एसा कहन का कोई अथ नही। यह वस ही हागा जसे आजकल कोई भारताय उत्तर की आर हाथ उठाकर कह कि हमार पूवज उधर स आए थे। यह किसी प्रकार अपन आपम प्रमाण नही हो सकता।

खोपडी की बनावट अथवा उसक नाप क आधार पर कुछ भी निधारित नहा किया जा सकता। डा० भूपद्रनाथ दत्त ने अपन हिदू सोशल पालिटी म इस स्पष्ट कर दिया है। नशास्त्री इस अब अत्यत गौण और कमजार प्रमाण मानन लग है। दीक्षितार-सरीखे लखक हा अपन पूवाग्रह सिद्ध करन के लिए

इसे प्रमाण रूप मे प्रस्तुत कर सकते है !

अहुरमज्द को सारे ईरानी पण्डित अमुरमहान् मानते है। हमारे लेखक ने उसे 'असुरमय' माना है (पृष्ठ ७६)। इसी प्रकार मिस्र के राजा मेनेस, अत्तियॉस और केनकेनीज भारत के क्रमश मनु, इक्ष्वाकु और कुकच हो गये (पृष्ठ १३८) है। यदि हमारे लेखक या उसके इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली के अवलम्ब-लेखक को मूल मिस्री का ज्ञान होता तो यह ध्वनिसाम्य द्वारा गलत 'इक्वेशन' प्रस्तुत करने का भी साहस उन्हे न होता। खैर, उन्हे जानना चाहिए कि ये नाम पिछले काल की ग्रीक तालिका 'मानेथो' से लिये गये है। उसके मूलाधार मिस्री तालिका मे ये नाम इस प्रकार है—मेना, अतेती (मानेथो का अथोथिस—रागेय राघव का गलत अत्तियॉस—ऐतिहासिक आहा—है किसी प्रकार अतेती, आहा या अथोथिस से इक्ष्वाकु बनने की सम्भावना ?) और खेन्त (तेता अथवा अतेता या अतेती—रागेय राघव का कुकच)। कहना न होगा कि इस प्रकार की लालवुझक्कडी से इतिहास नही बनता। उसके निर्माण के समय मन की इच्छा को अलग रख नियमित सत्य को अपनाना पडता है। साधना उसके लिए परमावश्यक है। सीमाओ को समझकर ही विषय चुनना उचित है, वरना दलदल मे फँसना होता है।

'परिशिष्ट ३' पर जुलाई १९४९ की जनवरी मे छपे प्रभाकर माचवे के 'भारतीय सस्कृति पर सुमेरियन सस्कृति का प्रभाव' नामक एक लेख का विस्तृत हवाला दिया गया है। पहले-पहल हिन्दी मे सन् '१९ से एकाध साल पहले ही प्रतीक' मे इस सम्बन्ध का मेरा सविस्तर लेख 'सस्कृतियो का अन्तरावलवन' निकला। (वैसे वाद मे भी कल्पना और स्वय जनवाणी मे मिस्री-वावुली साहित्य-सम्वन्धी मेरे लेख—जो हिन्दी भाषा मे पहले थे—प्रकाशित हुए। 'प्रतीक' मे रागेय राघव लिखते रहे थे। कोई कारण नही कि मेरा लेख उन्होने पढा न हो। पर उसे साफ दरकिनार कर उन्होने माचवे के इस 'अनुवाद' का हवाला देना अधिक प्रामाणिक समझा! उनको शायद यह पता भी नही कि माचवे का वह लेख एक मराठी लेखक का अनुवाद-मात्र है। सन् '४९ की वात है जव मै शिकागो विश्वविद्यालय की पट्टिकाओ को भारतीय इतिहास और परम्परा की दृष्टि से पढने (मध्यपूर्व की खुदाइयो के डायरेक्टर क्रीलिंग के निमन्त्रण पर, जिनके साथ मध्य-पूर्व की खुदाइयो मे मैं शामिल भी था) अमेरिका जा रहा था तव मेरे प्रतीक वाले लेख को पढकर मराठी पत्रिका मे छपा वह लेख माचवे ने मेरे पास भेजा जिसे मैंने उन्हे यह कहकर लौटा दिया था कि मै मराठी नही जानता। प्रगट है कि वही लेख जनवाणी मे उनका मूलाधार वना। यह कार्य —जिसके ऊपर निर्भर करना उसका उल्लेखन करना—रागेय राघव के स्वभावानुकूल ही है। मेरे प्राचीन कहानी-सग्रह 'सवेरा' की कहानी 'विध्वस के

पूर्व' म उठाकर मेरे दो चरित्रो नतकी और योगिराज' का अपने मुर्दों का टीला' म नया उपयोग इसका प्रमाण है। उपन्यास की भूमिका म मेरे कहानी-सग्रह का उल्लेख कुरुचिपूण है।

जहाँ पुस्तक म इतनी तालिकाए और परिशिष्ट आदि दिय हैं वहा अन्त म एक नाम परिशिष्ट या इन्डेक्स जोड देना अनुचित न हुआ होता। इन्डेक्स से ग्रन्थ की उपादयता बढ जाती है विशेषकर इतिहास-सम्बधी ग्र थ की।

अस्तु ! इन कुछेक पृष्ठो म मैंने प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास का स्पशमात्र किया है। सारा ग्रन्थ असम्भव निष्कर्षो का घटाटोप है जिसकी सविस्तर आलोचना केवल समय और स्याही नष्ट करेगी उमस विज्ञान को विशेष लाभ न होगा क्योकि वज्ञानिक पण्डित तो पुस्तक को उलटत ही उसका तथ्य जान उसे त्याग देगा और दीक्षितार की पुस्तक की भाति उसकी नजरो म यह भी उपेक्षित हो जाएगी। पर श्रद्धालु पाठको के लिए जिनके समीप ग्र थ के आकार शब्द के बाहुल्य और लेखक के साहस का महत्त्व अधिक होता है इतना भी लिखना अनिवाय हो गया। इसी कारण यह किंचित लम्बी और आलोच्य ग्रन्थ के त्रुटिप्राण त्रुटयावयव वहदाकार कलेवर का स्पशमात्र करती आलोचना।

१८

पाटलिपुत्र की कथा

प्रस्तुत पुस्तक 'पाटलिपुत्र की कथा' या मागध साम्राज्य का उत्थान और पतन—श्री सत्यकेतु विद्यालकार की आधुनिक कृति है, जिसके प्रकाशन का श्रेय प्रसिद्ध हिन्दुस्तानी एकेडमी नाम की शोध-सस्था को है। श्री सत्यकेतु विद्यालकार 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' के लेखक के रूप मे जाने हुए विद्वान् है। इतिहास के क्षेत्र मे उनकी और भी कुछ कृतियाँ इधर-उधर देखने मे आई है। वैसे भी वे पेरिस के डी० लिट् है और साधारणत यह आशा की जा सकती है कि उनके द्वारा प्रणीत इतिहास का ऐतिह्य उपेक्षणीय न होगा और उनकी शैली वैज्ञानिक होगी। परन्तु अभाग्यवश ऐसा कुछ नही है और प्रस्तुत ग्रन्थ जितना ही लेखक की ऐतिहासिक समीक्षा पर व्यग्य है उतना ही ऐकेडमी के प्रकाशन पर भी एक बडा धब्बा है। मुझे इस पुस्तक को पढकर अत्यन्त निराशा हुई, ग्रन्थकार के अवैज्ञानिक दृष्टिकोण से उतनी ही जितनी एकेडमी के इस असुन्दर प्रकाशन से। जीवन मे मैंने शायद इतनी असुन्दर और भोंडी पुस्तक नही देखी। कागज इतना खराब है कि लगता है कि एकेडमी ने विशेष यत्न से इसको प्राप्त किया होगा। छपाई इतनी बुरी है कि उसके लिए भी सम्भवत उसे प्रेस के सम्बन्ध मे विशेष चिन्तन करना पडा हो, और इनसे ऊपर जो ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है वह नितान्त अग्राह्य है।

सात सौ से ऊपर पृष्ठो मे यह 'पाटलिपुत्र की कथा' सम्पन्न हुई है। इतिहासकार स्वभावत इस पुस्तक मे इतिहास खोजेगा परन्तु वस्तुत यह 'कथा' ही है, पाटलिपुत्र के सम्बन्ध मे लिखा एक विशद पुराण। 'पुराण' शब्द का व्यवहार मैं जान-बूझकर कर रहा हूँ। पुराणो मे जिन प्रसगो का वर्णन है उनकी व्याप्ति अनन्त है। और इसी कारण उन्हे कुछ विद्वानो ने उचित ही विश्व-कोष (एनसाइक्लोपीडिया) की सज्ञा दी है। प्रस्तुत ग्रन्थ भी इसी अर्थ मे पुराण है और इसमे पाटलिपुत्र की कथा के प्रसग मे प्राय जो कुछ जाना हुआ है वह सारा दे दिया गया है—महाभारत-काल के बार्हद्रथ राज-कुल से

पाठक की आँखों में खटकने लगता है।

इस सम्बन्ध में एक बात और यह है कि लेखक ने सम्भवत पाटलिपुत्र की कथा हिन्दू काल के अन्त तक ही सीमित रखनी चाही थी। और इसी कारण उसने पृष्ठ ६३१ पर ग्रथ का 'उपसहार' भी लिख डाला। इसी से सम्भवत व्याख्या रूप में उसने ग्रथ का वैकल्पिक नाम मागध साम्राज्य का उत्थान और पतन' भी रखा है। इस नामकरण का प्रभाव ग्रथकार की लेखनी पर कुछ कम नहीं हुआ। वस्तुत इसी से ग्रन्थ हिन्दू दृष्टिकोण से लिखा गया मगध के साम्राज्यों की एक अवैज्ञानिक प्रशस्ति बन गया है। यही कारण है कि हिन्दू काल के बाद का साढ़े सात सौ वर्षों का अद्यावधि पाटलिपुत्र का इतिहास सर्वथा उपेक्षणीय और अक्षम्य हो गया है। ६३२ पृष्ठों के विरोध में ७८ पृष्ठों में पटना की यह अटूट कहानी फिर भी ग्रथकार के अज्ञान अथवा जल्दबाजी से अपेक्षाकृत सुन्दर बन पड़ी है।

कुछ ऐतिहासिक भ्रान्तियों पर भी यहा एक नजर डालना शायद बुरा न हो। पृष्ठ ६ पर ग्रथकार ने बृहदारण्यक उपनिषद के विदेहराज जनक और राम के श्वसुर सीरध्वज जनक को एक मान लिया है जिससे एक कालक्रम दूषण उपस्थित हो गया है। विदेहों की अध्यात्म परम्परा उपनिषत्काल में उठी महाभारत के प्राय दो सौ वर्ष बाद। पृष्ठ २६ पर जरासन्ध के बाद के बाइस राजाओं के शासन-काल का कुल योग ६४० वर्ष बताते हुए ग्रथकार यह सर्वथा भूल गया है कि ससार के इतिहास के प्रतिकूल ४६ वर्षों के शासन काल का वयक्तिक औसत सर्वथा अग्राह्य होगा। शासन काल तो अलग रहा एक कुल के पुरुषों के जीवन-काल का औसत भी २० वर्ष से अधिक नहीं रखा जाता राज्य-काल की अवधि और भी कम मानी जाती है, प्राय १५ वर्ष। पृष्ठ ४८ पर राजगृह को वज्जियों के आक्रमणों से बचाने का जो लेख है वह गलत है क्योंकि उसके प्राचीरों का निर्माण वज्जियों के विरोध में नहीं बल्कि अवन्ति के चन्द्र प्रद्योत महासेन से रक्षा के लिए हुआ था। वज्जियों से लोहा लेने के लिए पाटलि-दुर्ग का निर्माण गगा और शोण के कोण में हुआ था। पृष्ठ ४७ पर प्रसेनजित को विद्वान लेखक अजातशत्रु का नाना लिखता है जो गलत है। अजातशत्रु की विमाता कोशलदेवी प्रसेनजित की कन्या नहीं बहन थी और निश्चय ही प्रसेनजित की जिस कन्या वजिरा से अजातशत्रु ने विवाह किया वह उसकी विमाता कोशलदेवी की बहन न थी भतीजी थी। पृष्ठ ६० पर लेखक ने महापद्मनन्द को गोदावरी के प्रदेश में स्थित अश्मक महाजनपद का स्वामी माना है जो स्वीकार नहीं किया जा सकता। पृष्ठ ६७ पर विद्वान ग्रन्थकार ने प्राचीन आर्यों को एक ईश्वर का उपासक माना है यह सर्वथा असत्य है और इसकी असत्यता उस पर सहज ही प्रकट हो जायगी जो ऋग्वेद का

उलट-मात्र लेगा। उसी सिलसिले मे ग्रन्थकार अपनी धारणा व्यक्त करता है कि पहले यज्ञ हिंसा-रहित होते थे। वाद मे पशु-हिंसा से युक्त हुए। यह अन्थ्रोपालोजी (नृ-शास्त्र) और एथनालोजी के सारे सिद्धान्तो के विरुद्ध है। सर्वत्र मानव जाति मे मानव और पशु-हिंसा-युक्त यज्ञो का प्रारम्भ मे प्राधान्य हुआ, जो धीरे-धीरे हिंसा-वृत्ति से विलग कर लिये गए। ग्रन्थकार का दृष्टि-कोण प्रमाणत दयानन्दी है। पृष्ठ १०६ पर सिकन्दर को ग्रीक राज्यो का विजेता कहा गया है, जो गलत है। उनका विजेता सिकन्दर का पिता फिलिप था। अगले पृष्ठ पर लेखक लिखता है कि कठ, क्षुद्रक, मालव आदि को जीतने के वाद सिकन्दर व्यास नदी के किनारे आ पहुँचा। यह भी गलत है, क्योकि क्षुद्रक और मालव गणो से सिकन्दर का मुकावला व्यास नदी के तट से लौटने के वाद हुआ था। कम्वोज को विद्वान् लेखको ने पामीरो के उत्तर मे वदख्शाँ माना है और उसे, जैसा पृ० ११६ पर और अन्यत्र लिखा है मौर्यों की शासन-सीमा मे रखा है। वह इस वात को भूल जाता है कि वदख्शाँ और पामीरो की वह उपत्यका प्राचीन वाख्त्री है, ग्रीको की प्रसिद्ध वैक्ट्रिया, जिस आधार से दिमित आदि ग्रीक राजाओ ने भारत पर पाटलिपुत्र तक आक्रमण किया था। यह भू-भाग कभी मौर्यों के अधिकार मे आना तो दूर रहा, अशोक के शासन-काल मे सीरिया का एक प्रान्त था जो पार्थिया के साथ उससे विद्रोह करके स्वतन्त्र हो गया। कम्वोज कम-से-कम मौर्य-काल मे वदख्शाँ का नाम न था, यद्यपि उसकी स्थिति काश्मीर के प्राय ठीक उत्तर मे थी। इसी प्रकार पृष्ठ १२१ मे मदुरा का विन्दुसार के शासन मे होना गलत है। पृष्ठ १६६ पर चन्द्रगुप्त मौर्य-सम्वन्धी (भद्रवाहु के साथ) श्रावणवेलगोला को अभिनिष्क्रमण ग्रन्थकार सम्प्रतिका वताता है। पृष्ठ २०४ पर ग्रन्थकार शालिशुक के शासन-काल मे पाटलिपुत्र पर यवनो का आक्रमण मानकर भी उनका नेतृत्व डेमेट्रियस से भिन्न करता है जिसका नतीजा यह होता है कि वह सर्वथा भ्रम के गर्त मे गिर जाता है। एक ओर तो जैसा उसके अन्यत्र के उल्लेख से सिद्ध है (पृष्ठ ३२६) वह डेमेट्रियस को पुष्यमित्र का आक्रान्ता नही मानता, साथ ही खारवेल को उसका विजेता मानता है। पर इस वात को वह भूल जाता है कि खारवेल के शिलालेख मे दिमित का उल्लेख होने से डेमेट्रियस खारवेल का समकालीन हो जाता है और शालिशुक का विजेता होने से जहाँ वह शालिशुक और खारवेल का समकालीन है वहाँ पुष्यमित्र का नही हो सकता। वास्तव मे खारवेल भी पुष्यमित्र का समकालीन या विजेता नही। कथा-सरित्सागर के आधार पर सातकर्णि को काश्मीर का राजा मान लेना (पृष्ठ ३४६) सभी ऐतिहासिक उसूलो के विरुद्ध है। और मगध के सातवाहनो का वर्णन करते हुए ग्रथकार ने जो उनके मगध पर शासन की व्यवस्था दी है उस प्रसग मे वह भूल जाता है कि उनके कृष्णा-

डॉ० भगवतशरण उपाध्याय

जन्म—१९१० ई०, ग्राम—उजियार, जिला—बलिया, उत्तर प्रदेश।

प्रगतिशील विचारक, कथाकार तथा आलोचक और इतिहास, पुरातत्त्व एव सस्कृति के विश्रुत विद्वान।

हिन्दी विश्वकोश के प्रथम सपादक।

लगभग ७५ से अधिक ग्रथो के रचयिता।

अन्य प्रकाशित पुस्तकें : सवेरा, सघर्ष और गर्जन (कहानी-सग्रह), विश्वसाहित्य की रूपरेखा, प्राचीन भारत का इतिहास, वीमेन इन ऋग्वेद, इडिया इन कालिदास, द एशिएट वर्ल्ड (अग्रेज़ी मे) इत्यादि।

गोदावरी-तटवर्ती साम्राज्य और मगध के बीच शीघ्र शकों के दो प्रबल राजकुलों का पच्चर ठुक गया। पृष्ठ ३२७ पर पतञ्जलि को विदिशा का निवासी बनाना उन सारी प्राचीन अनुश्रुतियों और परम्पराओं के विरुद्ध है जो महाभाष्यकार को गोनद (उत्तर प्रदेश का गोंडा जिला) का निवासी घोषित करती हैं। वास्तव में इतिहास सम्बन्धी इतनी भूलें इस ग्रंथ में हैं कि उनकी तालिका मात्र एक नया ग्रन्थ प्रस्तुत कर देगी।

भाषा तो किसी प्रकार परिष्कृत नहीं कही जा सकती। आज दिन भी ग्रंथकार उन्नीसवीं सदी का ही भाषा का व्यवहार करता है। भाषा का यह चमत्कार पृष्ठ पृष्ठ पर देखा जा सकता है। फिर विदेशी नामों के प्रयोग में भी उसे कमाल हासिल है। सारी दुनिया और प्राचीन ग्रीक तक 'मक्दूनिया' बोलते लिखते थे पर हमारा लेखक उसे अंग्रेजी ढंग से मसेडोनिया ही लिखेगा उसका एण्टियाकस द ग्रेट प्रयोग तो बेजोड़ है। भाषा फिर भी विषय और मुद्रण परिष्कार आदि के अनुकूल ही है।

मैं फिर भी सन्तुष्ट होता यदि हिन्दुस्तानी एकेडमी का नाम इस पुस्तक के साथ संयुक्त न होता। ऐसी पुस्तकों से इतिहास और हिन्दी का कलेवर न सजे तो अच्छा हो।

● ●